चेतना विकास मूल्य शिक्षा

कक्षा 8

अनुक्रमाणिका

भाग	पाठ	नाम	पृष्ठ सं.
		वंदना	
1. मानव लक्ष्य			
	पाठ 1	समाधान	5
	पाठ 2	समृद्धि	9
2. अस्तित्व सहज व्यवस्था			
	पाठ 3	अस्तित्व सहज व्यवस्था	14
	पाठ 4	हमारी धरती एक व्यवस्था	18
	पाठ 5	पदार्थ अवस्था	21
	पाठ 6	प्राण अवस्था	23
	पाठ 7	जीव अवस्था	28
	पाठ 8	ज्ञान अवस्था	31
3. अखंड समाज			
	पाठ 9	परिवार व्यवस्था	35
	पाठ 10	संबंध	38
	पाठ 11	मूल्य	45
	पाठ 12	सामाजिक पूरकता	49
	पाठ 13	उत्सव	53

4. सार्वभौम व्यवस्था

पाठ 14	मानव इतिहास	56
पाठ 15	मानवीय परम्परा	60
पाठ 16	मानवीय व्यवस्था	63

(क) शिक्षा–संस्कार

पाठ 17	शिक्षा–संस्कार	68

(ख) स्वास्थ्य–संयम

पाठ 18	शरीर–व्यवस्था	71
पाठ 19	आहार और औषधि	76

(ग) उत्पादन–कार्य

पाठ 20	मानवीय उत्पादन–कार्य	80

(घ) विनिमय–कोष

पाठ 21	मानवीय विनिमय–कोष	83

(ङ) न्याय–सुरक्षा

पाठ 22	न्याय–सुरक्षा	86

वंदना

वंदना उनकी करें, जिनसे सुशोभित है धरा।
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा।।

जिनसे दिशा हमको मिली, नित मानवीय मार्ग की।
पथ मिला निश्चित हमें थी, कामना जिस मार्ग की।।
कृतज्ञता से सौम्यता की, नित्य आयी निरंतरा।
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा।।

जिनका है चिन्तन शुभ यही, कैसे हो मानव सुखमयी?
प्रेरणा से जिनकी है, मानव का जीवन सुखमयी।।
श्रद्धा समर्पित जिनसे आए, मानवीय परम्परा।
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा।।

सबके सुख की कामना ले, रहती जिनकी कल्पना।
निकली जिनसे मानवीय पथ, हेतु निश्चित योजना।।
पूज्यता उन हेतु जिनसे, है सुसज्जित वसुन्धरा।
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा।।

– **प्रदीप पूरक** बिजनौर, (उ.प्र.)

पाठ–1

समाधान

हर मानव चाहे वह किसी भी प्रांत, देश, जाति, समुदाय या धर्म का हो, सुखी रहने की आशा रखता है। इसे हम मानव की 'मूल चाहना' भी कहते हैं। सुखी रहने की आशा के साथ हर मानव अपनी उपयोगिता का प्रयोजन को सिद्ध करना चाहता है, प्रमाणित करना चाहता है।

अपनी मूल चाहना की पूर्ति हेतु, हमारे लक्ष्य हैं, जिन्हं हम मानवीय लक्ष्य कहते हैं। यह क्रम से समाधान, समृद्धि, अभय और सह अस्तित्व है। यह चारों लक्ष्य हम सभी मानव के जीने के चार स्तर में एक पूर्ण और सुखद या सुख प्रदाई स्थिति, जो की निरंतर बनी रहती है, उसको इंगित करते हैं। जैसे माधान, एक व्यक्ति की सीमा में पूर्ण और निरंतर स्थिति को इंगित करता है, समृद्धि, परिवार में एक पूर्ण और खुशहाल स्थिति को इंगित करता है, अभय, समाज की एक पूर्ण और उत्कृष्ट स्थिति को और सह अस्तित्व, समूचे प्रकृति और अस्तित्व की पूर्ण और परम स्थिति को इंगित करता है।

समाधान	समृद्धि	अभय	सह–अस्तित्व
↓	↓	↓	↓
व्यक्ति में	परिवार में	समाज में	प्रकृति/अस्तित्व में

एक मानव का इन चारों स्तर में – व्यक्ति, परिवार, समाज और प्रकृति के साथ–साथ, ही रहता है और इन चारों स्तर पर अच्छी और सुखद स्थिति को प्राप्त करना, उसका धेय है, लक्ष्य है। समाधान का लक्ष्य जो की एक मानव की पूर्ण स्थिति को इंगित करता है, अन्य तीन लक्ष्यों – समृद्धि, अभय और सह अस्तित्व के सफल होने का आधार है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि एक मानव को ही परिवार में, समाज में और प्रकृति के साि इन लक्ष्य को प्राप्त करना है। संबंधित मानव, परिवार में समृद्धि के लक्ष्य को, समाज में अभय के लक्ष्य को और प्रकृति के साथ यह

अस्तित्व के लक्ष्य को प्राप्त करने की योग्यता का विकास कर पाता है। इसलिए व्यक्ति में समाधान की स्थिति ही अन्य लक्ष्य के सफलता का आधार है।

समाधान की सुखद स्थिति के लक्ष्य की पूर्ति के लिए मानव के रूप में हम अपने जीने के चार आयाम को समझना आवश्यक है। यह चार आयाम है –

– विचार

– व्यवहार

– कार्य

– अनुभव

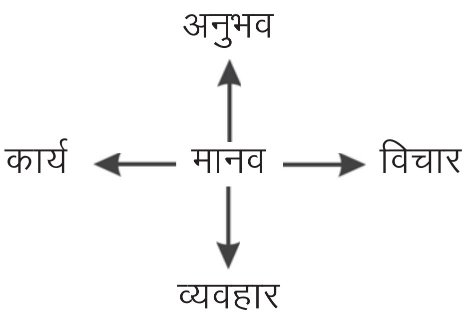

प्रकृति और अस्तित्व एक सहज व्यवस्था है, जिसमें चार अवस्था (पदार्थ अवस्था, प्राण अवस्था, जीव अवस्था और ज्ञान अवस्था) में एक अवस्था के रूप में ज्ञानावस्था ओर इस अवस्था की इकाई के रूप में मानव प्रकट हुआ है। अस्तित्व सहज व्यवस्था में संबंध को स्वभाव के रूप में हम स्वीकारते है, वास्तविकता को वस्तु और तथ्य के रूप में समझते हैं ओर सत्यता को नियम के रूप में अनुभव करते है। इस प्रकार संबंध, वस्तु और नियम के रूप में अस्तित्व सहज व्यवस्था है और यह हम मानव के अनुभव का आयाम है।

हमारे जीने में हम चिंतन, विशलेषण और चयन करते हैं। लक्ष्य का विवेक पूर्ण तरीके से चिंतन करना, उसको प्रमाणित करने के लिए विश्लेषण करना और परस्परता (परिस्थिति) में चयन करना, यह हमारे विचार का आयाम है।

मानव–मानव के बीच, व्यवहार होता हैं इसमें संबंध के भाव के साथ, एक दूसरे के साथ हम कर्त्तव्य और दायित्व पूर्वक, उभय सुख के फल को प्राप्त करते हैं। यह हमारे व्यवहार का आयाम है।

मानव, प्रकृति के साथ कार्य करता है और प्रकृति के साथ अवार्तानशील प्रक्रिया से, प्रकृति को सुरक्षित बनाए रखते हुए, अपनी आवश्यकता की मर्यादा सीमा में उपयोग करता है। यह हमारे कार्य का आयाम है।

हमारे अनुभव, विचार, कार्य और व्यवहार में एक सूत्रता और समन्वय हो जाने से एक व्यक्ति के रूप में समाधान की स्थिति को हम प्राप्त होत हैं। इसके लिए हम अस्तित्व सहज नियम, बौद्धिक , नियम, व्यवहार के नियम और प्राकृतिक नियम को समझना आवश्क है। बौद्धिक नियमों को समझकर हमारे विचार में संगीतमयता होती है। व्यवहार के नियमों को समझकर हमारे व्यवहार में संगीतमयता और प्राकृतिक नियमों को समझकर हमारे कार्य में संगीतमयता होती है। सह अस्तित्व के नियम को अनुभव कर, विचार, कार्य और व्यवहार में संगीतमयता की निरंतरता हो जाती है। यह एकसूत्रता और समन्वयता है जिससे हम समाधान की स्थिति कहते है।

इस प्रकार सह अस्तित्व नियम, बौद्धिक नियम, व्यवहार नियम और प्राकृतिक नियम को समझना हमारे लिए आवश्यक है। यह हमारे समाधान के लक्ष्य का आधार है। हम सह अस्तितव के नियम को अनुभव कर तीनों नियम को समझकर, अपने आचरण को प्रमाणित करते हैं और हमारे समाधान की स्थिति की निंरतरता होती हैं तत्पश्चात, अपनी योग्यता और पात्राता का विकास करते हुए हम, परिवार में व्यवहार के आयाम को प्रखर करते है अैर परिवार में समृद्धि को प्रमाणित करते है। इस क्रम में आगे चलते हुए, अपनी पात्रता ओर योग्यता को और प्रखर करते हुए, समाज में अभय को प्रमाणित करते है और अंततः प्रकृति और अस्तित्व के साथ सह अस्तित्व को।

इन चारों लक्ष्य की पूर्ति से हमारी मूल चाहना जो की निरंतर सुख की अनुभूति है, पूर्ण होती है। यह हम सभी मानव का प्रयोजन है।

अभ्यास व अध्ययन

1. "हम स्वयं में विश्वास के साथ जीना चाहते हैं" – इसे स्पष्ट कीजिए।
2. हमारे मन में स्वयं के प्रति जो जिज्ञासाएँ हैं, उसकी सूची बनाइए।
3. सह–अस्तित्व को विस्तार से स्पष्ट कीजिए।
4. समाधान क्या है?

पाठ–2

समृद्धि

समाधान, समृद्धि, अभय और सह–अस्तित्व मानव लक्ष्य है। यह सर्व मानव का लक्ष्य है। इसे हम अच्छी तरह समझ चुके हैं। परिवार की आवश्यकता से अधिक उत्पादन ही समृद्धि है। आवश्यकताएँ परिवार में स्पष्ट होती हैं एवं ये सीमित हैं। जबकि वस्तुएँ अनेक हैं। मानव की आवश्यकताएँ सीमित हैं – यह स्पष्ट होना ही भौतिक वस्तुओं के सन्दर्भ में निर्भ्रम होना है।

मनुष्य शरीर और जीवन का संयुक्त साकार रूप है। शरीर के लिए सामान्य आकांक्षाएँ स्पष्ट हैं – ये हैं आहार, वस्त्र एवं आवास। शरीर सीमित है, इसलिए शरीर की आवश्यकताएँ भी सीमित हैं। जीवन की तृप्ति होना मानव परंपरा में अनिवार्य है। 'जीवन' ही शरीर को चलाता है, शरीर की आवश्यकताओं का निर्धारण करता है, आवश्यकताओं को प्राप्त करने के लिए प्रयोग व उत्पादन करता है। वस्तुओं का उपयोग करता है एवं यह निर्णय भी करता है कि आवश्यकताओं की पूर्ति हुई या नहीं। अतः समृद्धि में जीवन की भूमिका प्रमुख है। इन वस्तुओं के अलावा मनुष्य के लिए और भी कुछ आवश्यक है जैसे – सम्मान, विश्वास, प्रेम, स्नेह आदि। मनुष्य को भूख लगने पर भोजन की आवश्यकता होती है। यदि यह भोजन फेंक कर दिया जाए। तो इसका क्या परिणाम होगा ? कोई भी मनुष्य अपमानित होकर भोजन नहीं करेगा। इसे हम स्वयं में जाँच कर देख सकते हैं।

विश्वास भी हमारे लिए अनिवार्य है। हम चाहते हैं कि हमारे ऊपर विश्वास किया जाए और हम भी सभी मनुष्य पर विश्वास करें। इस प्रकार हम समझते हैं कि भौतिक वस्तुएँ जैसे भोजन वस्त्र, वाहन, उपकरण एक प्रकार की वास्तविकता है जो हमें चाहिए। इसी प्रकार सम्मान, विश्वास, स्नेह, ममता – दूसरे प्रकार की वास्तविकता है। वास्तविकता इसलिए है क्योंकि इन्हें पचानते हैं और इन्हें पाकर हम तृप्त होते हैं। वे न मिलने पर इनका अभाव बना रहता है।

प्रथम प्रकार की वास्तविकता, जिसे हम भौतिक वस्तु कहते हैं, यह शरीर की आवश्यकता है एवं द्वितीय प्रकार की वास्तविकता, जीवन के लिए है। इन दोनों प्रकार में कुछ भेद है जैसे प्रथम

प्रकार की आवश्यकता में वज़न (भार) होता है, द्वितीय प्रकार की भारहीन होती हैं। शरीर की आवश्यकता सीमित होती है जबकि जीवन की आवश्यकता निरंतर चाहिए। भोजन हमें कभी–कभी चाहिए और विश्वास, सम्मान, स्नेह हमें निरंतर चाहिए।

यह भी स्पष्ट होता है कि ये दोनों ही मनुष्य को चाहिए। यहाँ हम समझते हैं कि जीवन की आवश्यकता को भौतिक वस्तुओं से पूरा नहीं किया जा सकता एवं शरीर की आवश्यकता को विश्वास, सम्मान द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता। हम भ्रमवश जीवन की आवश्यकता को भौतिक वस्तुओं से पूरा करना चाहते हैं। जैसे सम्मान को हम बड़ी गाड़ी, घर आदि से पूरा करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में आवश्यक वस्तुओं को बढ़ाया जाता है और अपेक्षा की जाती है कि सम्मान मिलेगा। सम्मान पाने के लिए यदि हम कीमती वस्त्र लाएँ तो क्या सम्मान मिलेगा ? यदि कोई मनुष्य ऐसी स्थिति में सम्मान कर रहा हैं तो वह 'कीमती वस्त्र' का सम्मान कर रहा है या मनुष्य का ? इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जब जीवन में समझदारी नहीं होती; सम्मान, स्नेह से जीवन तृप्त नहीं होता तब ऐसा लगता है कि भौतिक वस्तुओं से यह पूरा हो सकता है। फलस्वरूप आवश्यकताएँ अनंत लगती हैं।

मनुष्य की आवश्यकता सीमित है। इस धरती पर वस्तुएँ भी सीमित हैं। अतः वस्तुओं के सदुपयोग से सभी लोगों की समृद्धि संभव है।

समृद्धि मनुष्य का लक्ष्य है। इसके बिना मनुष्य तृप्त नहीं हो सकता है। परन्तु क्या समृद्धि संभव है ? क्या यह प्रत्येक मानव के लिए संभव है ? इस पर विचार करेंगे एवं समझेंगे।

1. मनुष्य शरीर और जीवन का संयुक्त रूप है। जीवन अक्षय शक्ति एवं अक्षय बल सम्पन्न है। शरीर क्षयशील बल व शक्ति सम्पन्न है। भौतिक आवश्यकताएँ केवल शरीर के लिए हैं। इन आवश्यकताओं को जीवन एवं शरीर मिलकर (संयुक्त रूप में) पूरा करना है। अतः यह संभव लगता है।

2. समाधानित होने पर यह स्पष्ट होता है कि आवश्यकताएँ सीमित हैं एवं प्रकृति में (धरती में) इसकी संभावनाएँ अधिक हैं।

3. प्रत्येक जीवावस्था की इकाई अपने शरीर की आवश्यकता को पूरा कर सकता है, करता है। हाथी जैसे बहुत अधिक मात्रा में भोजन करने वाले जीव एवं चींटी जैसे कम बलशाली इकाई

भी इसे पूरा कर रहे हैं। रेगिस्तान जैसे इलाके में ऊँट जैसे विशालकाय जीव अपने भोजन को प्राप्त करते रहे हैं।

हमारी आवश्यकताएँ क्रम से आहार, वस्त्र एवं अलंकार, आवास, दूर श्रवण, दूरदर्शन एवं दूर गमन हैं। क्रम से का तात्पर्य आहार की आवश्यकता सबसे अधिक है। वस्त्र एक बार प्राप्त होने पर वही वस्त्र बहुत अधिक दिनो तक उपयोग किया जा सकता है। आवास भी एक बार बन जाने पर कई वर्षो तक चलता है एवं उसमें सामान्य मरम्मत करते रहने पर बहुत ही समय तक उपयोगी बना रहता है। दूरसंचार शरीर के लिए अनिवार्य नहीं है। यह जीवन की प्रधानता में उपयोगी होता है – यह मुख्यतः समाज गति अर्थात सम्बंधों के निर्वाह एवं मानवीय व्यवस्था को बनाए रखने के क्रम में होता है। बिना यंत्र के कुछ दूरी तक दूरसंचार करने में मानव सक्षम है। यह आदिकाल से करता रहा है। दूर–दूर तक सुनना एवं सुनाना पहले से ही बना रहा। एक व्यक्ति 5 से 25 मीटर तक सुनने–सुनाने की क्षमता रखता है। इसे बढ़ाने के लिए पास जाकर सुनाते थे। इस कार्य में अनेक लोग (सारा गाँव) लगकर बहुत ही कम अवधि जैसे कुछ ही महीनो में किसी सूचना को बहुत बड़े इलाके में फैलाते थे। हम यह सुनते हैं कि हिमालय बहुत ऊँचा बर्फ से ढका पर्वत है। यह बहुत पहले से प्रचलित है। जबकि इसे बोलने वाले अधिकांश लोगों ने हिमालय नहीं देखा था। इसी प्रकार भारत बहुत अच्छा एवं धनी देश है – यह सूचना ग्रीस देश के लोगों को आज से दो हज़ार वर्ष पहले से ही थी। इससे पता चलता है दूर संचार मानव परंपरा मे हमेशा से ही बना रहा। यंत्रो के आने से इसमे गति आई है।

पहले आपातकालीन सूचना देने के लिए विभिन्न प्रकार के नगाड़े प्रचलित थे। इसके द्वारा किसी सूचना को बहुत बड़े इलाके में कुछ ही मिनटों में पहुँचाया जाता था। जैसे किसी बस्ती में हाथियों का झुण्ड घुस गया तो उसे देखते ही लोग नगाड़ा बजाते थे। यह ध्वनि विशेष प्रकार की होती है। इसे जो भी सुनते थे वे भी उसी प्रकार की ध्वनि पैदा करते थे। फलतः अगले कुछ मिनटों में पूरा इलाका उस प्रकार के ध्वनि को सुन एवं समझ लेता था। गाँव में कई प्रकार की घटनाओं के लिए कई प्रकार के ध्वनि संकेत प्रचलित थे एवं अधिकांश लोग ऐसी ध्वनि निकालने में पूरे पारंगत होते थे।

हाथी, घोड़े, ऊँट आदि पशुओं को वाहन के रूप में मानव प्रयोग करता आया। इनके बाद दूरगमन बहुत आसान हो गया। एक साथ कई लोग यात्रा करते थे। इन्हें गाड़ियों में बाँधकर चलते

थे। साथ में अनाज व सामान्य ईंधन लेकर चलते थे। जहाँ भी वे रूकते थे – पीने का पानी व पशुओं के लिए भोजन देखकर ही रूकते थे। आज भी ग्रामीण एवं जंगली इलाके में ऐसा ही करते हैं। इस प्रकार के दूरगमन के लिए कोई भी खर्च नहीं होता क्योंकि पशु अपना भोजन रास्ते मे ही करते रहते हैं।

आज दूरसंचार पहले से कई गुना अधिक हो गया है। इनमें कई लोग कार्य करते हैं –दिन रात श्रम करते हैं। जैसे बस, ट्रेन एंव वायुयान दिन–रात चलते हैं। इन्हें चलाने के लिए एक दल होता है– इन्हें चालक दल कहते हैं। इनके इस श्रम को हम सेवा कहते हैं। इस प्रकार हम समझते हैं कि दूरसंचार के उपकरणों का, यंत्रों का उत्पादन होता है एवं उत्पादन के पश्चात उपयोग के समय एवं कोई टूट–फूट होने पर सुधार के लिए भी कार्य होते रहते हैं। इन्हें हम सेवा कहते हैं।

सेवा, उत्पादित वस्तु के सदुपयोग के अर्थ में भी होता है जैसे – खेत में धान उगाते हैं। इसे साफ कर लाते हैं। इसके पश्चात इसके छिलके को निकालते हैं; पत्थर–कंकर आदि निकालकर धोते हैं। उचित विधि से पैक करते हैं। मौसम के अनुसार गर्म या सामान्य ठंडा पका चावल भोजन के लिए परोसते हैं। इसे हम सेवा कहते हैं। इसी प्रकार वस्त्रों को धोना, सुखाना, सुरक्षित रखना भी सेवा कहलाता है। मकान की सफाई, सुरक्षा भी सेवा के अर्न्तगत आते हैं।

शरीर स्वास्थ्य के अर्थ में भी सेवा को पहचाना जाता है। मानव समाज में सेवा अनिवार्य भाग है।

समृद्धि एक व्यक्ति के द्वारा या अकेले संभव नहीं है। एक परिवार के स्तर पर समृद्धि संभव है। परन्तु इस हेतु हमें अनेक व्यक्तियों या परिवारों की आवश्यकता होती है। अर्थात हम अनेक प्रकार की वस्तुओं का उपयोग करते हैं। कोई छोटा परिवार इन सभी का उत्पादन नहीं कर पाता। कुछ वस्तुओं का उत्पादन करता है एवं अन्य वस्तुओं को अन्य परिवारों से प्राप्त किया जाता है। अन्य परिवारों से कोई भी वस्तु लेते हैं, तब उसे हम बदले में कुछ वस्तु देते हैं। बिना कुछ दिए हम कुछ लेते नहीं है। इस प्रक्रिया को विनिमय कहते है। इस प्रकार हम समझते हैं कि अनेक परिवार साथ–साथ जीने एवं विनिमय करने से आवश्यकता की सभी वस्तुएँ प्राप्त कर सकते हैं।

हम पहले इसे समझ चुके हैं कि हम कोई वस्तु का उत्पादन करते हैं। वह काफी समय तक

उपयोगी बना रहता है। जैसे – वस्त्र एक बार बनाते हैं वह कुछ वर्षो तक भी चलता है। इसी प्रकार मकान बनाने पर वह कई वर्षों या 2–3 पीढ़ी तक चलता है। बीच–बीच में मरम्मत करनी पड़ती है। इसका श्रम नए मकान निर्माण की तुलना में बहुत कम होता है। इस प्रकार कुछ बर्तन जो भोजन के प्रयुक्त होते हैं वे भी कई वर्ष चलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अग्रिम पीढ़ी को कई वस्तुएँ जन्म से ही प्राप्त होती हैं एवं कुछ वस्तुएँ उनके शरीर यात्रा पर्यन्त उपयोगी बनी रहती हैं। इस प्रकार प्रत्येक पीढ़ी को आगे पीढ़ी से समृद्धि के लिए प्रेरणा, अवसर व वस्तुएँ मिलती हैं। अग्रिम पीढ़ी से समृद्धि की संभावना बढ़ जाती है। यह साथ–साथ जीने की महिमा है एवं वस्तुओं के सद्‌पयोग–सुरक्षा की महिमा है।

अभ्यास व अध्ययन

1. शरीर एवं जीवन की आवश्यकताओं में क्या–क्या भेद हैं?
2. प्रत्येक मानव का समृद्धि पाना कैसे संभव है?
3. दूरसंचार की सदुपयोगिता स्पष्ट कीजिए।
4. सेवा किसे कहते हैं? सेवा क्यों आवश्यक है?
5. 'समृद्धि' एक व्यक्ति के द्वारा या अकेले संभव नहीं है – इस वाक्य को स्पष्ट कीजिए।

पाठ–3

अस्तित्व सहज व्यवस्था

जैसे कि हमने पिछले भागों में समझा किः

1. अस्तित्व में दो मूल वास्तविकताएँ हैं – व्यापक सत्ता एवं इकाई।

2. व्यापक सत्ता में सभी इकाईयाँ संपृक्त हैं।

व्यापक सत्ता में प्रत्येक इकाई संपृक्त है और इसलिए ऊर्जित है। ऊर्जित होने के कारण ही इकाई क्रियाशील है। अर्थात संपृक्तता के कारण हम देखते हैं कि पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा से लेकर पेड़–पौधे, पशु–पक्षी; सब क्रियाशील है। वस्तुतः इकाई ही क्रिया है। इकाई स्वयं में व्यवस्था है और अपने से बड़ी व्यवस्था में भागीदार है। जैसे पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा व अन्य ग्रह–गोल स्वयं में व्यवस्थित हैं व सौर मंडल के भाग हैं। इनकी भागीदारी की पहचान यह है कि ये ग्रह अपने–अपने गति–पथ में निरंतर गति करते हुए आपस में टकराते नहीं हैं और सौर मंडल जैसी बड़ी व्यवस्था बनाए रखते हैं। यह उनकी अपने से बड़ी व्यवस्था में भागीदारी है।

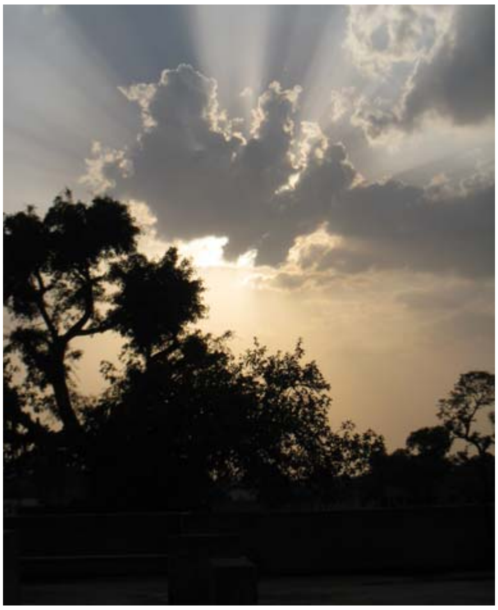

अतः अस्तित्व में हर इकाई क्रियाशील है। यह क्रियाशीलता 3 प्रकार के क्रिया स्वरूप में दिखती हैं – भौतिक क्रिया, भौतिक–रासायनिक क्रिया व जीवन क्रिया। उदाहरण के लिए मिट्टी और पानी के मिलने से कीचड़ बनता है। यह एक भौतिक क्रिया है जिसमें पानी और मिट्टी के आचरण में कोई परिवर्तन नहीं आता तथा पानी के सूख जाने से कीचड़ पुनः मिट्टी बन जाता है। साथ ही, मिट्टी स्वयं एक भौतिक–रासायनिक क्रिया है जो अनंत रासायनों का संयुक्त रूप है। मिट्टी में प्रत्येक रसायन अपने आचरण को त्याग एक नए आचरण को अपनाती है। इसके अतिरिक्त, मानव में सोचना–विचारना, इच्छा करना, अपेक्षा रखना, आशा करना होता है। यह सब जीवन क्रियाएँ हैं।

भौतिक व भौतिक–रासायनिक क्रियाओं में पहचानना व निर्वाह करना होता है व जीवन क्रियाओं में पहचानना–निर्वाह करना के साथ–साथ जानना–मानना भी होता है।

पदार्थ की सभी इकाइयाँ 4 अवस्थाओं में हैं – पदार्थ, प्राण, जीव और ज्ञान अवस्था। चारों अवस्थाओं को जब हम देखते हैं तो यह जिज्ञासा होती है कि यह सारी अवस्थाएँ कैसे बनी? अवस्थाओं के प्रगट होने का एक निश्चित क्रम है – यह क्रम **रचना क्रम** है।

पदार्थ अवस्था में कुछ परमाणु–अंश से एक परमाणु बनता है। अंशों के संख्याभेद से विभिन्न प्रजाति के परमाणु बनते हैं जैसे लोहा, तांबा, कार्बन आदि। दो या दो से अधिक परमाणु से एक अणु बनता है (जैसे कार्बन डाईऔक्साईड) तथा एक से अधिक अणुओं से अणु रचनाएँ बनती हैं। एक निश्चित ताप, दाब से अणु रचनाओं में रासायनिक क्रिया होती है जिससे रसायन बनते हैं – जैसे जल। जल और कई प्रकार के रसों के बनने से प्राण कोशिश की रचना होती है। प्राण कोशिका से प्राण अवस्था, जीव–शरीर व मानव–शरीर की रचना होती है – यही अस्तित्व में रचना क्रम है।

रचना क्रम में पेड़–पौधों से जीव–शरीर और जीव–शरीर से मानव–शरीर बनता है। मानव, चैतन्य इकाई व शरीर (जड़ इकाई) का संयुक्त रूप है व ज्ञान अवस्था की इकाई है। मानव–शरीर एक समृद्ध मेधस सहित है और रचना क्रम की सबसे विकसित इकाई है। यथा रचना क्रम जड़ इकाईयों में विकास का क्रम है।

रचना क्रम की गति एक समृद्ध विकसित मानव–शरीर की ओर रही है, जिसमें जीवन (चैतन्य इकाई) के प्रमाणित होने की संभावना पूरी है।

रचना क्रम के साथ–साथ, अस्तित्व में एक निश्चित **विकास क्रम** भी है। जैसे कि हम पहले समझ चुके हैं कि अस्तित्व में दो प्रकार की इकाईयाँ हैं – जड़ इकाई व चैतन्य इकाई। जड़ इकाई में परमाणु गठनशील होता है अर्थात उस परमाणु में (कुछ निश्चित परिस्थितियों में) अंशों का बढ़ना–घटना होता है। यथा उस परमाणु के गठन में परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन को हम भौतिक–रासायनिक क्रिया के रूप में पहचानते हैं। एक गठनशील परमाणु के दूसरे गठनशील परमाणु के साथ बने रहने को अणु–बंधन कहते हैं। जैसे ऑक्सीजन परमाणु एक और ऑक्सीजन के परमाणु के साथ मिलकर, अस्तित्व में ऑक्सीजन के अणु के रूप में बना रहता है। अतः गठनशील परमाणु भौतिक–रासायनिक क्रिया से अणु–बंधन में बने रहता है – यह परमाणु की व्यवस्था है।

गठनशील परमाणु का गठनपूर्णता की तरफ बढ़ने को हम **विकास क्रम** कहते हैं। गठनशील से गठनपूर्ण हो जाने को **विकास** कहते है। गठनपूर्ण परमाणु वह परमाणु है जिसका गठन पूरा होता है अर्थात उसमें अंशों का बढ़ना–घटना अर्थात मात्रात्मक परिवर्तन नहीं होता। अतः गठनपूर्ण परमाणु में कोई भौतिक–रासायनिक क्रिया नहीं होती। वह अणु–बंधन से मुक्त होता है। गठनपूर्ण परमाणु में केवल गुणात्मक परिवर्तन होता है जिसे हम जीवन क्रिया के रूप में पहचानते हैं।

गठनपूर्ण परमाणु को चैतन्य इकाई भी कहते हैं। चैतन्य इकाई में पहचानने और निर्वाह करने की क्रिया के साथ–साथ जानने–मानने की क्रिया भी होती है। मानव, चैतन्य इकाई व जड़ इकाई (मानव–शरीर) का संयुक्त रूप है। यह हम जांच सकते हैं कि मानव जैसे समझता–सोचता है वैसे जीता–करता है। केवल शरीर की पुष्टि उसके लिए तृप्तिदायक नहीं होती। समाधानित होने पर मानव स्वयं को व अस्तित्व को समझता है तो व्यवस्था को और पुष्ट व समृद्ध करता है। मानव–शरीर, मानव के समझने और प्रमाणित होने के लिए मात्र साधन है।

दूसरे शब्दों में, चैतन्य इकाई जीव–शरीर व मानव–शरीर चलाता है। जीव–शरीर चलाने का प्रयोजन जीने के अर्थ में है और मानव–शरीर को चलाने का प्रयोजन सुखपूर्वक जीने के अर्थ में है। अर्थात मानव में जीवन क्रियाओं का श्रम, समाधान की ओर है। समाधान की स्थिति में जीवन की सारी क्रियाएँ सक्रिय होती हैं। अर्थात अनुभव–अनुसार बोध, चिंतन, विश्लेषण व चयन क्रिया होना। जीवन की दसों क्रियाओं के सक्रिय होने को **क्रियापूर्णता** कहते हैं। अनुभव की स्थिति ही क्रियापूर्णता है। अनुभव के अनुसार हर आयाम में प्रमाणित होना अर्थात–स्वयं में समाधान, परिवार में समृद्धि, समाज में अभय, प्रकृति व अस्तित्व के साथ सह–अस्तित्व होने को हम **आचरणपूर्णता** कहते हैं। क्रियापूर्णता ही मानव पद का प्रमाण है औरे आचरणपूर्णता ही देव व दिव्य मानव का प्रमाण है। गठनपूर्णता से क्रियापूर्णता तक के क्रम को हम **जागृति क्रम** कहते हैं। क्रियापूर्णता को **जागृति** और आचरणपूर्णता को **जागृति पूर्णता** कहते हैं। रचना क्रम, विकास क्रम–विकास व जागृति क्रम–जागृति निश्चित है और अस्तित्व सहज है। यही अस्तित्व सहज व्यवस्था है।

अभ्यास व अध्ययन

1. रचना क्रम क्या है?

2. पदार्थावस्था में किस तरह रचना क्रम दिखता है?
3. प्राणावस्था में किस तरह रचना क्रम दिखता है?
4. जीव अवस्था व ज्ञान अवस्था में रचना क्रम को स्पष्ट कीजिए।
5. गठनपूर्णता क्या है? विकास किसे कहते हैं?
6. जागृति क्रम एवं जागृति किसे कहते हैं?

पाठ–4

हमारी धरती एक व्यवस्था

धरती सूर्य की परिक्रमा कर रही हैं और अपनी धूरी पर भी घूम रही है, जिसके कारण दिन–रात व ऋतुएँ होती हैं। यह बात हम एक दिन की अवधि और एक वर्ष की अवधि के रूप में समझ सकते हैं। प्रकृति के आचरण की निश्चितता व व्यवस्था का यह प्रमाण है कि हर सुबह सूर्य पूर्व से उगता हुआ दिखाई देता है व शाम को पश्चिम में ढलता हुआ दिखाई देता है और यह रोज़ होता है और हमेशा होता आया है।

पृथ्वी अपने धूरी पर घूम रही है और एक पूरे चक्कर में पृथ्वी को 24 घंटे लगते हैं। जिसे हम एक दिन–रात की तरह पहचानते हैं। धरती के घूर्णन के कारण सूर्य की किरणें जहाँ पड़ती हैं, वहाँ दिन होता है और जो भाग परछाई में आता है, वहाँ रात होती है।

हम यह भी देखते हैं कि में एक वर्ष में दिन और रात की लम्बाई बदलती है और तापमान व मौसम भी बदलता है। इस बात पर भी हमें ध्यान देने की आवश्यकता है कि घूर्णन गति और सूर्य की परिक्रमा से पृथ्वी पर वनस्पति, पशु व मानव कैसे प्रभावित होते हैं।

जैसे कि हमने पहले पढ़ा है कि पृथ्वी का आकार गोल है। पृथ्वी मध्य भाग से चौड़ी है और ध्रुवों पर चपटी। इस आकार के कारण पृथ्वी पर सूर्य की किरणें व ऊष्मा समान नहीं पहुँचती। पृथ्वी के मध्य में एक काल्पनिक रेखा भूमध्य रेखा मानी गयी हैं। इसके उत्तर और दक्षिण में दोनों गोलार्धों को उत्तरी गोलार्ध व दक्षिणी गोलार्ध कहा गया है। भारत देश उत्तरी गोलार्ध में आता है। दोनों गोलार्धों का छोर उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव हैं। भूमध्य रेखा के पास सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं, इसलिए वहाँ गर्मी ज़्यादा होती है और ध्रुवों पर सूर्य की किरणें तिरछी पड़ती है इस

कारण पूरे वर्ष यहाँ थल बर्फ से ढ़कें रहते हैं।

हम जहाँ रहते हैं वहाँ के तापमान व मौसम में बदलाव को हम ऋतु कहते हैं जैसे ग्रीष्म ऋतु, शरद ऋतु, वर्षा ऋतु आदि।

ऋतु बदलने का कारण पृथ्वी के अपने धूरी पर घूमना और सूर्य की परिक्रमा करना है। जब दक्षिणी गोलार्ध सूर्य की ओर होता है, वहाँ सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं, अतः वहाँ ग्रीष्म ऋतु होती हैं। उत्तरी गोलार्ध में सूर्य की किरणें उन 6 महीनों में तिरछी पड़ती हैं और उस समय वहाँ शीत ऋतु होती है। इसी प्रकार जब उत्तरी गोलार्ध पर सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं तब वहाँ ज्यादा गर्मी होती है और दक्षिणी गोलार्ध में सर्दी। जब रात की लम्बाई बढ़ती है और दिन छोटे हो जाते हैं तब ठंड बढ़ जाती है। एवं जब दिन की लम्बाई बढ़ती है तब हम यह देखते हैं कि गर्मी भी बढ़ जाती है।

तापमान और मौसम के बदलने को हम पहचानते हैं। जैसे किसी ऋतु में पेड़ के पत्ते झड़ जाते हैं, किसी में फूल खिलते हैं या किसी में अधिक वर्षा होती हैं। साथ ही, ऋतु—अनुसार हम अपनी वेशभूषा, खान—पान व रहन—सहन बदलते हैं। ऋतुओं के बदलने से ही हम पृथ्वी पर इतनी विविधता देख पाते हैं।

ऋतुएँ निश्चित समय पर हर वर्ष आती हैं। नई ऋतु का आने का समय भी निश्चित है और ऋतु के आवन—गमन से पृथ्वी पर अनेक घटनाएँ निश्चित तौर पर होती हैं। एक वर्ष में पृथ्वी की सूर्य की परिक्रमा, ऋतुएँ, वनस्पति, जीव—शरीर, मानव—शरीर; इन सबका एक चक्र पूरा होता है।

प्रत्येक अवस्था में संतुलन एवं चारों अवस्थाओं के आपस के संतुलन में ऋतु—चक्र की एक महत्वपूर्ण भूमिका है।

प्राण अवस्था की हर घटना व स्थिति का संबंध ऋतु के बदलने से है। बीजों का अंकुरित होना, पौधे बनना, उसमें अन्न, फल व फूल आना ओर फल का परिपक्व होना। इसी तरह, जहाँ ऋतु लम्बी होती है, वहाँ पौधों की आयु भी लम्बी होती है। कुछ पौधों की आयु एक ऋतु होती है, कुछ पेड़ एक वर्षीय होते हैं और कुछ बहुवर्षीय होते हैं। इन सभी पेड़—पौधों में फलन—फूलन ऋतु के अनुसार निश्चित समय पर होता है।

ऋतुओं की सही पहचान ऋतुमान से होती है। ऋतुमान का अर्थ ऋतु की लम्बाई है और इस लम्बाई से ही ऋतुओं से पृथ्वी में परिवर्तन पहचाना जा सकता है। एक वर्ष की ऋतुओं में मानव–शरीर का सम्पूर्ण पोषण होता है। अलग ऋतुओं में अलग फल व अन्न उपलब्ध होते हैं, और वर्ष–भर में इन विभिन्न आहारों से मानव का पोषण पूर्ण होता है। ऋतुओं के साथ जल चक्र, पवन चक्र चलते हैं जिससे धरती पर तापमान नियंत्रित होता है। जैसे ग्रीष्म ऋतु के बाद वर्षा ऋतु का आना जिससे धरती का तापमान कम हो जाता है।

सागर में सूर्य की किरणों से वाष्प बनता है और वह वाष्प बादल बनकर हवा के माध्यम से थल की ओर जाता है। यहाँ यह बादल वर्षा की तरह बरसता है। पृथ्वी पर कहीं सूखी गर्मी है, कहीं अधिक नमी सहित गर्मी है, सूखी सर्दी है आदि। अलग जलवायु से यह विभिन्नता है। पवन चक्र व जल चक्र के माध्यम से पृथ्वी पर ऊष्मा का वितरण होता रहता है।

धरती का आचरण निश्चित है अर्थात धरती में ऋतु का आचरण भी निश्चित है। बसंत के बाद ग्रीष्म ऋतु, उसके बाद वर्षा इत्यादि। यह निश्चित है। यह क्रम बदलता नहीं। यानि कि यह नियम अनुसार है। यह वार्षिक है। यह सब व्यवस्था का ही प्रमाण है।

इससे हम यह समझ सकते हैं कि पृथ्वी का धूरी पर घूमना और सूर्य की परिक्रमा करना सिर्फ एक घटना नहीं है। यह एक निश्चित आचरण व व्यवस्था का प्रमाण है। धरती एक व्यवस्था है, धरती में घटित ऋतुएँ भी एक व्यवस्था हैं।

अभ्यास व अध्ययन

1. दिन और रात क्यों होते हैं?
2. ऋतुएँ क्यों बदलती हैं?
3. ऋतुओं में परिवर्तन से मानव आहार में बदलाव को स्पष्ट कीजिए।
4. ऋतुएँ एक व्यवस्था है – इसे स्पष्ट कीजिए।

पाठ–5

पदार्थ अवस्था

पिछले भाग में हमने अलग–अलग प्रकार के पदार्थों के बारे में पढ़ा। उनके विभिन्न रूप जैसे तरल, विरल व ठोस के बारे में पढ़ा। पदार्थ अवस्था नियम को भी समझा। पदार्थ अवस्था की प्राण अवस्था के साथ होने में जो भागीदारी है, उसको भी जाना। आइये अब पदार्थ अवस्था के बारे में और जाने और समझें।

पदार्थ अवस्था की सबसे छोटी इकाई है–परमाणु। परमाणु में कुछ अंश होते हैं और इन अंशों के संख्या भेद से अलग–अलग प्रजाति के परमाणु होते हैं। जैसे हाईड्रोजन – एक विरल पदार्थ है। इसके परमाणु के मध्य मे एक अंश है और उसके चारों ओर एक और अंश घूमता है। यह हाईड्रोजन के परमाणु का गठन है। हर हाईड्रजन के परमाणु का यह ही गठन है। अथात् एक निश्चित गठन है। इस निश्चित गठन से ही हाईड्रोजन के परमाणु का निश्चित आचरण है। ऐसे ही आक्सीजन भी एक विरल पदार्थ है। इसमें भी अंशो की संख्या निश्चित है। आक्सीजन के निश्चित गठन के कारण ही उसका आचरण निश्चित होता है। यह निश्चित्ता एक व्यवस्था है। परमाणु न्यूनतम 2 अंशो की व्यवस्था है। परमाणु ही व्यवस्था की मूल इकाई है।

एक से अधिक परमाणुओं से एक अणु बनता है। अणु, एक दूसरे को पहचानते हैं और आपस में एक निश्चित दूरी में रहते हैं। इस प्रकार से अणु से अन्य पदार्थ की रचना होती है। इसे अणु–बंधन कहते हैं। हाईड्रोजन के परमाणु और आक्सीजन के परमाणु के एक निश्चत गठन से पानी का एक अणु बनता है। पानी के कई अणु से पानी की एक बूंद बनती है। एवं कई बूंदों से नदियाँ, झरने, तलाब, सागर बनते हैं। पानी का आचरण हाईड्रोजन और आक्सीजन से भिन्न होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हर पदार्थ नियम के साथ, व्यवस्था में है।

अणु कई प्रकार के होते हैं। इन्हीं की अलग–अलग रचनाओं से, अलग–अलग पदार्थ बनते हैं। अणु व्यवस्था में है और इससे रचित अन्य पदार्थ भी व्यवस्था में हैं। मिट्टी के छोटे–छोटे कणों से चट्टान, पहाड़, मैदान, जंगल, घाटी, नदी, झरने, तालाब से द्वीप, महाद्वीप, सागर–धरती की सतह पर; खनिज पदार्थ, तेल, मणि, धातु–धरती के भूगर्भ में; और धरती के चारों ओर फैला वायु मंडल – इनसे मिलकर धरती की संरचना होती है। अतः यह धरती भी एक व्यवस्था है। ध्यान से देखें तो हमारी धरती के आस–पास के ग्रह, उपग्रह, ग्रह–गोल भी ऐसे ही रचित हैं।

साथ ही, पदार्थ अवस्था समग्र व्यवस्था में भागीदार होते हुए, प्राण अवस्था और जीव अवस्था के लिए भी पूरक है। प्राण अवस्था की इकाईयों को पदार्थ अवस्था से अपना पोषण प्राप्त होता है। धरती की सतह पर प्राण अवस्था के बने रहने और समृद्ध होने के लिए अनुकूल वातावरण है। धरती की सतह की मिट्टी भी बहुत उपजाऊ है। उसमें कई पोषक तत्व हैं। यह पोषक तत्व प्राण अवस्था की वृद्धि के लिए आवश्यक हैं। वायुमंडल से पेड़–पौधे प्राण वायु लेते हैं, सूरज से प्रकाश और पानी लेते हैं। हवा, पानी, सूखी टहनियाँ, पत्ते इत्यादि में रासायनिक क्रिया से प्राण अवस्था वापिस मिट्टी में परिवर्तित होती है तथा मिट्टी और उपजाऊ होती है। यह एक आवर्तनशील व्यवस्था है। पदार्थ अवस्था के व्यवस्था में होने का फल है कि धरती पर प्राण अवस्था प्रकट हुई।

धरती की सतह पर, अनेक पदार्थ की इकाईयां (पानी, वायु, सूर्य की रोशनी आदि) और प्राण अवस्था के होने से जीव अवस्था के होने के लिए भी धरती पर अनुकूल वातावरण उपलब्ध है। साथ ही, जीव अवस्था अपने भोजन और आवास के लिए पदार्थ अवस्था पर निर्भर है।

इस प्रकार से पदार्थ अवस्था प्राण आवस्था व जीव अवस्था के होने में भागीदार होता है और प्राण अवस्था व जीव अवस्था, पदार्थ अवस्था के लिए पूरक हैं। यह एक व्यवस्था है।

अभ्यास व अध्ययन

1. हाइड्रोजन एवं ऑक्सीजन किस तरह निश्चित आचरण में हैं?
2. अणु–बंधन क्या है?
3. पदार्थ अवस्था एवं प्राण अवस्था में आवर्तनशीलता को स्पष्ट कीजिए।

पाठ–6

प्राण अवस्था

हम यह समझ समझ चुके हैं कि प्राण अवस्था मे मुख्यतः चार आचरण होते हैं जो पदार्थ अवस्था में नही होते। ये हैं :

1. श्वसन
2. वृद्धि
3. बीजगुणन
4. विरचना या मृत्यु

श्वसन प्राणावस्था का प्रथम लक्षण है। श्वसन के साथ ही शेष दो लक्षण दिखते हैं। श्वसन का बंद हो जाना, शेष दो लक्षण के रूक जाने का कारण होता है। अर्थात पेड़–पौधे में श्वसन बंद हो जाए तो उसकी वृद्धि बंद हो जाती है। बीज गुणन या प्रजनन भी बंद हो जाता है। इसे ही विरचना या मृत्यु कहते हैं।

प्रत्येक प्राण अवस्था की इकाई का उगना प्रारंभ होता है। इसे ही जन्म कहते हैं। जन्म एवं मृत्यु प्राणावस्था में पाए जाते हैं। ये पदार्थ अवस्था में नहीं पाए जाते। जन्म एवं मृत्यु के बीच की अवधि को आयु कहा जाता है। प्राण अवस्था की प्रत्येक इकाई की आयु होती है।

प्राणअवस्था में एक और लक्षण है जो पदार्थ अवस्था की किसी इकाई में नहीं पाया जाता। इसे लिंग कहते हैं। इसके मुख्यतः दो प्रकार होते हैं। ये हैं पुलिंग एवं स्त्रीलिंग। ये फूल से ही पहचाने जाते हैं। अर्थात फूल के दो प्रकार होते हैं – पुलिंग फूल एवं स्त्रीलिंग फूल। लौकी, कुम्हड़ा, तरोई जैसे वनस्पति को देखने पर पता चलता है फूल के दो प्रकार होते है – एक प्रकार का फूल वह है जिसमें फूल के प्रारंभ में एक छोटा सा फल होता है। पौधे की शाखा से फूल

निकलता है। उस शाखा में पहले फल का भाग होता है, बाद मे फूल।

यह कली की स्थिति से ही दिखता है। इसी पौधे में एक अन्य प्रकार का फूल दिखता है। जिसमें छोटा फल नहीं होता। उन फूलों को ध्यान से देखने पर फूलों के आंतरिक रचना में भी बहुत अंतर दिखाई देता है। इन दोनों फूलों को क्रमशः मादा पुष्प एवं नर पुष्प भी कहते हैं। फल सहित जो भी फूल होते हैं वे ही बाद में फल बनते है ये क्रमशः बड़े होते हैं। इसी प्रकार कई फूल ऐसे भी होते हैं जिनमें एक ही प्रकार का फूल (उभयलिंगी) होता है। जैसे गुलाब का फूल। इसी क्रम में हम यह भी देखते हैं कि कुछ वृक्ष ऐसे मिलते हैं जिनमें एक वृक्ष में केवल नर फूल एवं एक वृक्ष में केवल मादा फूल होते है। उदाहरण –पपीता।

नर पुष्प में पराग पाया जाता है। पराग बहुत छोट–छोटे कण होते हैं। जब किसी प्रकार से पराग मादा पुष्प में पहुँचता है इसे परागण क्रिया कहते हैं। परागण होने के फल स्वरूप मादा पुष्प में स्थित छोटा फल बड़ा होना प्रारंभ करता है। यदि परागण न हो तो फल बनने की प्रक्रिया या बीज बनने की प्रक्रिया प्रारंभ नहीं होती। अतः परागण क्रिया के फलस्वरूप फल एवं बीज का निर्माण होता है। उभयलिंगी फूल जिसमें पराग होता है, साथ ही, स्त्रीकेशर भी होता है; उसमें भी पराग स्वतः या किसी अन्य प्रकार से स्त्रीकेशर से मिलता है एवं परागण क्रिया सम्पन्न होती है। परागण क्रिया से बीज का निर्माण प्रारंभ होता है। कुछ समय पश्चात फल बढ़ता है। उसमें स्थित बीज भी वृद्धि को प्राप्त करते हैं। एक समय में बीज परिपक्व हो जाते हैं।

प्राणावस्था में बीज एक महत्वपूर्ण भाग है। बीज से पुनः पौधा एवं पौधे से पुनः बीज बनता है। यह एक चक्र है। यह आवर्तनशीलता है। कुछ समय में पौधे की मृत्यु हो जाती है। परन्तु बीज के द्वारा वह पौधा पुनः उगता है। इस प्रकार पौधे की परम्परा बनी रहती है। यह परम्परा की निरंतरता है। पौधे या वृक्ष की निरन्तरता नहीं होती, सभी पेड़–पौधे की मृत्यु होती है। परन्तु सभी प्रजाति की परम्परा बनी रहती है। परम्परा बने रहने में बीज का महत्वपूर्ण स्थान है। परंपरा बना रहना ही व्यवस्था का प्रमाण है। इसलिए प्राणावस्था को बीजानुषंगी व्यवस्था कहते हैं। बीज के द्वारा ठीक उसी प्रकार का पौधा बनता है – इसमें निश्चयता होती है – इस कारण इसे बीजानुषंगी व्यवस्था कहते हैं।

बीज में पौधे का मूल रूप या छोटा पौधा समाया रहता है। फल्ली या सेम या कोई बड़े

द्विदलीय बीज को लेकर दोनों दलों को सावधानी से खोलने पर उसमें एक छोटा सा पौधा दिखाई देता है। इसी बीज को पानी में भीगाने पर बीज फूल कर बड़ा होता है। उसमें स्थित पौधा भी बड़ा होता है। 1–2 दिन बाद इसमें एक भाग और निकलता है। यह अंकुर कहलाता है, जो जड़ बनता है। बीज में स्थित छोटे से पौधे को स्तूषी कहते हैं। स्तूषी के अलावा बीज का भाग, स्तूषी का भोजन होता है। इसे लेकर स्तूषी बड़ा होता है। कुछ समय के बाद जड़ के द्वारा पोषण प्राप्त करता है।

यदि हम हल्दी या अदरक की गाँठ को देखें तो पाते हैं कि यही हल्दी या अदरक का बीज होता है। अनुकूल समय में इसमें अंकुर एवं जड़ निकलते हैं। ये ही पौधे का रूप लेते हैं। कुछ समय के बाद हल्दी की एक गाँठ 5 या 10 या और अधिक गाँठों मे परिवर्तित हो जाती है। यहाँ पर इसे ही बीज गुणन कहते हैं। हल्दी, अदरक, स्वयं बीज हैं। ये कन्द कहलाते हैं। ये भूमि के भीतर तैयार होते है। इसी तरह आलू, कोचई जैसी कई प्रजाति होती हैं। फल्ली भी भूमि के भीतर पैदा होती है।

कई पौधे में पत्ते ही बीज होते हैं। पर्णबीज प्रजाति के पौधे के किसी पत्ते को या उसके टुकड़े को भूमि पर डाल दें तो अनुकूल परिस्थिति आने पर ये कई पौधे पैदा करते हैं। इसी प्रकार कई पौधे के कलम लगते हैं। उनकी छोटी शाखाएँ भूमि में गाड़ दी जाती हैं। उससे जड़ एवं पत्ते निकलते हैं। बीजानुषंगी व्यवस्था में बीज के अनुसार पौधे/वृक्ष बनते हैं। बीज कन्द, तना, पत्ते या फल हो सकते हैं।

प्राण अवस्था में पहचानने–निर्वाह करने की क्रिया होती है। प्राण अवस्था अपने भोजन को पहचानती है एवं ग्रहण करती है। इसी प्रकार पेड़–पौधे की जड़ पानी को पहचानती है। उसी दिशा में बढ़ती है। पौधे के तने एवं शाखाएँ सूर्य के प्रकाश को पहचान कर उस दिशा में बढ़ते हैं।

एक स्थान पर यदि करेला, मिर्च, गन्ना, इमली के पौधे को लगाया जाए तो हम देखते हैं कि सभी बड़े होते हैं। सभी अपने लिए आवश्यक रस को पहचानते एवं ग्रहण करते हैं। करेला कड़ुआ बना रहता है। गन्ना मीठा, इमली के पत्ते खट्टे होते हैं। इनका स्वाद अलग–अलग होना इस बात का द्योतक है कि इनमें पाए जाने वाले रसायन भिन्न–भिन्न हैं।

भूमि में पाए जाने वाले रसायन एवं पौधे में पाए जाने वाले रसायन भिन्न–भिन्न होते हैं। भूमि में पाए जाने वाले रसायन प्राण अवस्था की इकाई में पहुँचने के बाद, रसायननिक क्रिया द्वारा भिन्न रसायनों में परिवर्तित हो जाते हैं। ये रसायन प्राण अवस्था की पुष्टि के लिए आवश्यक होते हैं। इस प्रकार प्राणावस्था की प्रत्येक इकाई में स्वयं के पोषण के लिए 2 प्रकार की क्रिया होती है :

1. आवश्यक रस एवं रसायनों का ग्रहण,
2. एकत्रित रसायनों के सम्मिलित रासायनिक क्रिया के फल स्वरूप–पुष्टि तत्व एवं रचना तत्व का निर्माण होता है।

इस पूरे कार्यक्रम को पहचानना–निर्वाह करना कहते हैं। इसी के साथ प्राणावस्था की इकाईयों में घटनाएँ ऋतु के साथ होती रहती है या बदलती रहती है। जैसे पौधे में पत्ते आना, फूल खिलना, फल पकना ऋतु के साथ होता है। अंकुरण एवं मृत्यु (विरचना) भी ऋतु के अनुसार दिखाई देता है। उदाहरण के लिए आम का पौधा – वर्षा ऋतु के प्रारंभ में उगता है। बसन्त ऋतु अर्थात शीत ऋतु के अंत मे इसमे बौर (पुष्प) आते हैं। ग्रीष्म ऋतु के अन्त में फल पकता है। यह हर वर्ष एक जैसा ही होता है। इसी तरह सभी प्रकार के पौधे में देखा जा सकता है।

पेड़–पौधे में श्वसन क्रिया होती है। यह श्वसन क्रिया कौन से अंग में होती है ? पेड़–पौधे के पत्तियों में श्वसन क्रिया होती है। सप्राण भाग में श्वसन क्रिया होती है। जो भाग निष्प्राण है, उसमें श्वसन क्रिया नहीं होती है। सप्राण भाग में, वातावरण से प्राणवायु का अवशोषण होता है, अवशोशित वस्तु से रासायनिक क्रिया होती है। क्रिया के फल स्वरूप अनावश्यक भाग बाहर निकल जाता है। यह क्रिया श्वसन कहलाती है।

प्राणावस्था की मूल इकाई प्राण कोशिका कहलाती है। प्रत्येक वनस्पति प्राणकोशिका से बनी रचना है। प्रत्येक रचना में अनेकों कोशिका होती है। प्रत्येक कोशिका स्पन्दशील होती है। इन स्पंदनशील कोशिकाओं में स्पंदन के आधार पर तालमेल रहता है। यह तालमेल रसों के संचार के रूप में होता है।

इस प्रकार प्रत्येक प्राणावस्था की इकाई एक व्यवस्था है। उसका आचरण निश्चित होता है।

ये प्राणावस्था की इकाईयाँ अनेक सप्राणित कोशिकाओं का समूह होते हैं। प्रत्येक कोशिका एक व्यवस्था होती है एवं इनके तालमेल पूर्वक वनस्पति की व्यवस्था बनी रहती है।

अभ्यास व अध्ययन

1. प्राणावस्था के मुख्य आचरण कौन से हैं जो पदार्थ अवस्था में नहीं होते? एक–एक को स्पष्ट कीजिए।
2. प्राणावस्था में पुलिंग एवं स्त्रीलिंग किसे कहते हैं?
3. परागण क्रिया को स्पष्ट कीजिए।
4. प्राणावस्था को बीजानुषंगी व्यवस्था क्यों कहते हैं?
5. प्राणावस्था की प्रत्येक इकाई में स्वयं के पोषण के लिए कौन सी क्रियाएँ होती हैं?
6. पेड़–पौधों में किस तरह से श्वसन क्रिया होती है?

पाठ–7

जीव अवस्था

पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था धरती पर हैं, ये साथ–साथ दिखते हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। पदार्थावस्था हमारी धरती में समृद्ध अवस्था है और इसी अवस्था से बाकि अवस्थाओं का प्रगटन हुआ है। एक अवस्था के समृद्ध होने पर ही दूसरी अवस्था के प्रगट होने की अनुकूलता बनती है। जैसे कि हम पहले समझ चुके हैं कि पदार्थावस्था में रासायनिक क्रिया होने से पानी बना और पानी के पश्चात वातावरण के प्रभाव से अनेक रसायन एवं उनसे प्राणकोशिकाऐं बनी। प्राणकोशिका में श्वसन क्रिया होती है और यही प्राणावस्था के प्रगटन का आधार बना। ठीक इसी तरह प्राणावस्था के समृद्ध हाने पर अर्थात् प्राणकोशिकाओं के नए और विकसित प्रजातियाँ बनने पर रक्त बना, मेधस बना और ज्ञानेद्रिंयाँ बनी। यह जीवावस्था में जीव शरीर के बनने की प्रक्रिया रही। ऐसे विकसित शरीर को चलाने के लिए जीवन ज़िम्मेदार है। विकसित प्राण कोशिकाओं और समृद्ध शरीर का होना और उसके संचालन के लिए जीवन का होना ही जीवावस्था का प्रमाण है।

जीवावस्था प्राणावस्था से प्रगट हुई है और प्राणावस्था पदार्थवस्था से। अतः जीवावस्था में प्राणावस्था और पदार्थवस्था के गुण समाये हैं। जैसे जीवों में श्वसन–प्रश्वसन की क्रिया होती है। इस क्रिया से उनके शरीर में शुद्ध रक्त बनता रहता है और रक्तसंचार से शरीर के अवयव पोषित होते हैं। प्राणावस्था की इकाई में भी श्वसन क्रिया होती है। जिसके तहत उसमें पोषक–तत्व अवशोषित हो हैं और अनावश्यक तत्व बाहर निकलते हैं। साथ ही, जीवों में लिंग भेद है और इस भेद से उनमें प्रजनन क्रिया होती है। शिशु–शरीर जीव–शरीर के गर्भ में बनता है। पेड़–पौधो में भी नर और मादा भेद है। इस भेद के आधार पर उनमें परागण द्वारा प्रजनन

क्रिया होती है और उसी प्रजाति के अधिक संख्या में पेड–पौधे पैदा होते हैं। साथ ही, दोनों अवस्थाओं में वृद्धि होती है; हर दिन कई प्राणकोशिकाऐं सप्राणित होती हैं और कई निष्प्रणित होती हैं। कुछ पौधे 5 से 6 वर्ष तक बने रहते हैं, कुछ पेड़ 100 वर्ष तक भी बने रहते हैं। इसी तरह कुछ जीव की आयु लंबी होती है और कुछ की छोटी। जैसे शेर की आयु 20 से 25 वर्ष तक होती है और हाथी की आयु लगभग 100 वर्ष तक होती है। अतः वृद्धि क्रिया निश्चित है और इसीलिए प्राणावस्था और जीवावस्था की इकाईयों की आयु भी निश्चित है।

वृद्धि में जीव शरीर में रचना क्रिया होती है। अर्थात् शरीर की प्राणकोशिकाओं में वृद्धि होती है। शैशव से युवावस्था में आहार से जीव शरीर में पुष्टि होती है और इस दौरान शरीर में रचना क्रिया प्रभावशील होती है। वृद्धावस्था में जीव शरीर में आहार करने के बावजूद रचना के स्थान पर विरचना क्रिया हावी होती है। यानि शरीर कमज़ोर होने लगता है। मृत्यु होने पर जीव–शरीर और तेज़ी से विरचित होता है और अंततः मिट्टी में मिल जाता है। यही प्रक्रिया पेड़–पौधों में भी होती है। यही पदार्थावस्था में संगठन–विघटन क्रिया है। जैसे पत्थर वायु और जल के प्रभाव से विगठित हो कर मिट्टी बन जाता है और संगठन से वापस पत्थर बन जाता है। साथ ही, जीवावस्था की इकाई का भोजन क्रमशः वनस्पति, अन्य जीव और मिट्टी हैं और इन्हें यह अपने शरीर में पचाता है। आहार को शरीर के लिए अनुकूल बनाना ही पचाने की विधि है।

उपरोक्त क्रियाओं के अतिरिक्त जीवावस्था में जीने की आशा है। यह क्रिया जीवावस्था को प्राणावस्था और पदार्थावस्था से भिन्न करती है। जीव जीना चाहते हैं और जीने के लिए अपने शरीर के लिए आहार खोजते हैं तथा एकत्रित करते हैं और अपने शरीर को दूसरे जानवरों और वातावरण से सुरक्षित रखने के लिए अपने लिए उपयुक्त स्थान खोजते हैं। शरीर को जीवित रखने की आशा जीवन में हैं। जीवन जीना चाहता है, जीवन अपने शरीर को सुरक्षित रखना चाहता है।

जीवावस्था जीवन और शरीर के संयुक्त रूप को कहते हैं। जीवावस्था में मानना, पहचानना और निर्वाह करना होता है। गाय किसी मनुष्य को मालिक मानती है और इसलिए उसके संकेत को मानती है। जैसे उसका नाम पुकारने पर वह बुलाने वाले की ओर आती है। मानना जीवन में होता है और पहचानना और निर्वाह करना शरीर से होता है। इस तरह जीवावस्था में जीव मानव के (जीवन के) संकेत अनुसार भी कुछ क्रियाएँ करते हैं।

जीवन के होने के आधार पर अर्थात् मानने वाली क्रिया के होने के आधार पर जीवावस्था

प्राणावस्था और पदार्थावस्था से भिन्न है और ज़्यादा विकसित है। जीवावस्था प्राणावस्था और पदार्थावस्था की तरह नियम और नियंत्रण अनुसार कार्यरत है। नियम और नियन्त्रण के साथ–साथ जीवावस्था में संतुलन भी है। जैसे जीवावस्था में पशु–पक्षी का आचरण क्रूर या अक्रूर है। यह निश्चित आचरण ही जीवावस्था का नियम है। हम जीवावस्था में दोनों शाकाहारी (अक्रूर) और माँसाहारी (क्रूर) पशु–पक्षी पहचानते हैं। इनका स्थान बदलने पर भी शाकाहार अक्रूर ही रहेगा और माँसाहार क्रूर ही रहेगा। गाय का भोजन घास ही होगा और शेर का भोजन मांस ही होगा। साथ ही, हमें धरती पर शाकाहारी और माँसाहारी दोनों दिखते हैं और 50 वर्ष पहले भी दिखते थें और 50 वर्ष बाद भी दिखेंगे। इनकी परम्परा धरती पर निश्चित है। अर्थात् आचरण की निश्चित्ता और निरंतरता होने से जीवावस्था नियन्त्रित है। इसके साथ हम यह भी देखते हैं कि माँसाहारी पशु–पक्षी की आयु, प्रजाति और बच्चे शाकाहारी की तुलना में कम हैं। इसलिए माँसाहारी के लिए प्रकृति में पर्याप्त भोजन उपलब्ध है। साथ ही, प्रकृति सहज व्यवस्था से माँसाहारी और शाकाहारी पशु–पक्षियों का अनुपात निश्चित है। शाकाहारी जीवों की अधिक मात्रा में होने से धरती पर माँसाहारी और शाकाहारी जानवरों का अनुपात बना रहता है। जैसे सुअर एक वर्ष में 12 से अधिक बच्चे पैदा करते हैं। बाघ सुअर खाता भी है तो उनकी संख्या तेज़ी से बढ़ने के कारण धरती में उनका अनुपात नहीं बिगड़ता है। यही जीवावस्था में संतुलन अथवा व्यवस्था का प्रमाण है।

अभ्यास व अध्ययन

1. "जीवावस्था में प्राणावस्था और पदार्थावस्था के भी गुण शामिल है" – इसे स्पष्ट कर दीजिए।
2. जीवावस्था प्राणावस्था और पदार्थावस्था से किस तरह से भिन्न है?
3. जीवावस्था में संतुलन को स्पष्ट कीजिए।

गतिविधि

(शिक्षक के लिए) अपने आस–पास पाए जाने वाले किन्हीं दो (संभव हो तो एक शाकाहारी एवं दूसरा मांसाहारी) पशुओं का बच्चों को निम्न बिंदुओं के आधार पर निरीक्षण करने के लिए कहें।

1. उनकी आयु 2. उनके द्वारा वर्षभर में पैदा करने वाले बच्चों की संख्या 3. भोजन का तरीका
4. शरीर सुरक्षा का तरीका 5. मानने की क्रिया।

पाठ–8

ज्ञान–अवस्था

पदार्थ अवस्था, प्राण अवस्था और जीव अवस्था की इकाइयों के साथ अविभाजिय रूप में, हम मानव ज्ञानावस्था की इकाई के रूप में, इस धरती की व्यवस्था का भाग है। इस समूचे, अविभाजिय, संगीतमय व्यवस्था को हम प्रकृति भी कहते हैं।

प्रकृति में इकाई को समझने के लिए हम मानव, हर इकाई के चार आयाम को समझते हैं और इन आयाम के आधार पर हम उन्हें चार अवस्था के रूप में स्वीकारते हैं। किसी भी इकाई को समझने के लिए उसके चार आयाम निम्नलिखित है :

1. इाकई का रूप
2. इकाई के गुण
3. इकाई का स्वभाव
4. इकाई का धर्म

रूप, गुण, स्वभाव और धर्म के आधार पर हर इकाई, प्रकृति की चार अवस्था में गंनित है। यह इकाई की व्यवस्था को संपूर्ण स्वरूप भी है। इस प्रकार हम मानव, प्रकृति की हर इकाई की व्यवस्था को पूरी तरह से समझते हैं।

हर मानव इकाई शरीर के साथ हे और हर मानव शरीर की आकृति होती है। सबसे ऊपर सर, फिर धर और नीचे पैर। दो आँखें, नाक, दो कान और मुंह के साथ हमारे दो हाथ, हाथों पर उँगलियाँ और अंगूठा, इस प्रकार हम मानव के

शरीर का आकार है। आकार के साथ हम सभी के शरीर का आयतन भी है और मोटे, पतले लंबा और कद में छोटे होने से हमारा आयतन, हमें समझ में आता है। हममें से कई लोग, गठे हुए होते हैं और कुछ लोगों की मांस पेशियाँ मजबूत होती है। इस प्रकार हम सभी के शरीर का घन भी है। आकार, आयतन और घन को सम्मिलित अर्थ में रूप कहते हैं। बिना रूप के किसी भी मानव की कल्पना नहीं है। इस तरह मानव इकाई के रूप का आयाम है।

मानव इकाई के रूप के साथ–साथ, मानव का अन्य इकाई की परस्परता में प्रभाव भी है। इससे हम मानव के गुण कहते हैं। जैसे हम मानव, रचनाकार होते और कई प्रकार की वस्तु की रचना करते हैं। घर, गाडी, बर्तन, कपड़े इत्यादि के रूप में हम कई भौतिक वस्तु को रूप देते हैं। भौतिक वस्तु की रचना के साथ हम अन्य जीव और मानव को भी अपने जीने से और अपनी अभिव्यक्ति से प्रभावित करते हैं। हमारे अच्छे व्यवहार से लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और वह भी सुखद व्यवहार करने के लिए प्रेरित होते हैं। इस प्रकार अपनी परस्परता में हमारा प्रभाव होता है और यह हमारे गुण होते हैं। हर मानव, गुणों के साथ है और यह हर मानव इकाई का एक आयाम है। किसी भी प्रभाव को हम, सम प्रभाव, विषम प्रभाव और मध्यस्थ प्रभाव के रूप में गणना कर सकते है। सम प्रभाव का अर्थ है, वह प्रभाव जो परस्परता में रचना की ओर गति प्रदान करता है, जैसे कुछ बनाना, पैदा करना इत्यादि। विषम प्रभाव का अर्थ है, वह प्रभाव जो रचना से विपरीत दिशा की ओर गति प्रदान करता है, जैसे वस्तु को तोडना, नाश करना इत्यादि। मध्यस्थ प्रभाव का अर्थ है, वह प्रभाव जो सहज है, जिसके लिए कोई श्रम नहीं है और जिस कारण परस्परता में विकास और जागृति की ओर गति मिलती है। हर इकाई को पूर्ण रूप से समझने पर ही हम मध्यस्थ प्रभाव के साथ होते है। इस प्रकार, हम सभी मानव में रूप के साथ–साथ, गुण का आयाम भी है।

रूप और गुण के साथ, मानव इकाई का स्वभाव, इकाई का तीसरा अविभाजिय आयाम है, जिसके साथ हम मानव को इकाई के रूप में पहचानते है। हर मानव इकाई मूल्यों का अनुभव करना चाहती है और उन्हें अनुभव करने में सक्षम है। इस आधार पर हम मानव स्वयं की मौलिकता को स्वीकारते है अर्थात मानव मूल्य के प्रति हमारी निश्चिता का हम स्वयं में मूल्यांकित करते है। यह हमारे स्वभाव का आयाम है। हम अपने स्वभाव को 6 मानव मूल्य के अर्थ में समझते और स्वीकारते हैं। यह मूल्य निम्नलिखित है –

1. धीरता – संबंध में न्याय पूर्वक जीने की निष्ठा को धीरता मूल्य कहते हैं।

2. वीरता – अन्य मानव को उनके संबंध में न्याय को प्राप्त करने के लिए स्वयं की बौद्धिक और भौतिक शक्ति को नियोजित करना, वीरता मूल्य है।

3. उदारता – स्वयं के तन, मन और धन का अन्य के विकास के लिए, सदुपयोग करना, उदारता मूल्य है।

4. दया – अन्य मानव जैसा जी रहा हो, उसमें हस्तक्षेप न करते हुए, उसके विकास में और उसकी आवश्यकता को पूरा करने में सहायक होने को दया मूल्य कहते हैं।

5. कृपा – दूसरे की समझने और मूल्यों को ग्रहण करने की पात्रता को बढ़ाने में सहायक होने को कृपा मूल्य कहते है।

7. करुणा – अन्य मानव की पात्रता और आवश्यकता को पूरा करने में सहायक होने को करुणा मूल्य कहते है।

हम सभी मानव का स्वभाव है, जो कि उपरोक्त 6 मानवीय मूल्य के साथ मूल्यांकित होता है और यह हमारे इकाई स्वरुप होने का तीसरा आयाम है। अपने स्वभाव गति अर्थात मूल्य निश्चितता के साथ, अन्य इकाई को पूर्ण रूप से समझते हुए, अपनी परस्परता में विकास और जागृति का हमारा प्रभाव, श्रेष्ठ है, मध्यस्थ है। स्वयं में स्वभाव मूल्य के अभाव में परस्परता में विकास और जागृति के लिए अनुकूलता नहीं है।

रूप, गुण, स्वभाव और धर्म के अविभाजिया रूप में हम मानव, इकाई हैं। धर्म, हमारा मानव होने का चौथा आयाम है और यह हमारे 'होने' का मूल तत्व है। मानव इकाई, सुखपूर्वक होती है और 'सुख' मानव इकाई का धर्म है। किसी भी मानव का 'सुख' के बिना होना, स्वीकार्य नहीं है। इसलिए 'होना' और 'सुखपूर्वक होना' एक ही बात है। इन्हें अलग–अलग नहीं कर सकते हैं। सुखपूर्वक होना ही हम सभी मानव को सहज स्वीकार होता है।

सुखी मानव, अपने स्वभाव में धीर, वीर, उदार, दयालु, कृपालु और करुणाशील होते हुए, अन्रू इकाई को समझते हुए, अपनी परस्परता में विकास और जागृति को प्रभावित करता है। इस प्रकार

अपने 'सुखपूर्वक' होने को वह अपनी परस्परता में बाँटता है और अन्य इकाइयों के गुण, स्वभाव और धर्म में हस्तक्षेप न करते हुए, अनुकूल वातावरण प्रदान करता है। हम सभी मानव इस क्षमता के साथ हैं और वह मानव का धरती की व्यवस्था में भागीदारी है।

पाठ–9

परिवार व्यवस्था

परिवार स्वयं एक व्यवस्था है। यह व्यवस्था संबंध–प्रधान है। अर्थात परिवार में संबंधों में जीना, भौतिक वस्तुओं का उत्पादन अथवा उनको प्राप्त करने की तुलना में, कई अधिक हैं। अतः परिवार का होना और उसका बने रहने का मूल आधार संबंध है।

मानव, परिवार में जीते हुए संबंधों और मूल्यों को प्रारंभिक रूप में पहचानता है। जैसे माता–पिता को पहचानता है और उनके प्रति स्नेह का अनुभव करता है, भाई–बहन को पहचानता है और उनके प्रति स्नेह का अनुभव करता है। जागृत होने पर मानव इन संबंधों को पूर्ण रूप से स्वीकारता है और उनमें निरंतर न्यायपूर्वक जीता है। अन्यथा, मानव के संबंधों में उतार–चढ़ाव होता रहता है। संबंध की स्वीकृति उसमें निहित पूरकता की पहचान है। जागृत मानव संबंधों में पूरकता पहचानता है अर्थात् वह समाधान और समृद्धि को प्रमाणित करने के अर्थ में परिवार को पूरक पाता है। परिवार में सभी समाधान और समृद्धि का अनुभव कर पाएँ, जागृत मानव उसमें अपनी भागीदारी पहचानता है। अतः प्रत्येक मानव परिवार में जीते हुए ही समाधान, समृद्धि को प्रमाणित करता है। यही परिवार व्यवस्था का लक्ष्य है।

मानव के संबंधों का फैलाव परिवार से समाज तक है। जागृत मानव परिवार में न्याय पूर्वक जीता है और इसी आधार पर समाज में अभय पूर्वक जीता है। सभी संबंधों में पूरकता की पहचान से जागृत मानव सामाजिक होता है। सामाजिक होने का तात्पर्य मानव के सम्पर्कों और संबंधों में मूल्यों के निर्वाह से है। अर्थात् परिवार में समाधान और समृद्धि का प्रमाण और समाज में मानव

के साथ अभय और प्रकृति के साथ सह–अस्तित्व का प्रमाण, सामाजिकता की पहचान है। जागृत परिवारों का संपर्कों और संबंधों को न्याय की दृष्टि से देखना और उसमें न्याय प्रमाणित करना ही अखंड समाज कहलाता है। समुदाय–विहीन समाज की अखंड समाज है। यह जागृत जीवन का तृप्ति बिन्दु है।

परिवार की व्यवस्था को बनाए रखने में संबंधों के निर्वाह के साथ–साथ परिवार अपनी भौतिक आवश्यकताओं के लिए क्रियाकलाप करता है। जागृत परिवार उत्पादन व सेवा–कार्य करता है और अपने शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। आवश्यकता से अधिक उत्पादित वस्तुओं का वह गाँव–समाज में विनिमय करता है। साथ ही, वह समाज में न्याय पूर्वक जीता है और मानवीयता का धारक–वाहक होता है। इस तरह परिवार अपने से बड़ी व्यवस्था में भी भागीदार होता है। अतः परिवार एक सभा भी है, जो अन्य परिवारों और गाँव–समाज की व्यवस्था के लिए भी कार्यरत रहता है।

उत्पादन, विनिमय और न्याय से परिवार स्वयं की व्यवस्था बनाए रखता है और समग्र व्यवस्था में भागीदार होता है। जागृत परिवार श्रम पूर्वक उत्पादन–कार्य करता है। प्रकृति पर श्रम करने से परिवार को भौतिक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। इसी तरह जागृत परिवार समाज में लाभ–हानि मुक्त विधि से वस्तुओं का विनिमय करता है। साथ ही, सामाजिक संबंधों में मानव के साथ मूल्यों का आदान–प्रदान करता है और न्याय पूर्वक जीता है। अतः उपकार–विधि से जागृत मानव समाज में विनिमय करता है और न्याय में जीता है। उपकार–विधि में जागृत मानव को अपने क्रियाकलाप से प्रतिफल की कोई अपेक्षा नहीं होती है। उपकार केवल मानव की जागृति के अर्थ में होता है।

उत्पादन, सेवा, विनिमय और न्याय की प्रेरणा परिवार को मानवीय व्यवस्था में ही उपलब्ध होती है। मानवीय व्यवस्था में शिक्षा–संस्कार और स्वास्थ्य–संयम की व्यवस्था परिवार के प्रेरणा स्रोत होते हैं। शिक्षा–संस्कार से मानवीयता पूर्ण आचरण की समझ और स्वास्थ्य–संयम से शरीर के पोषण–संरक्षण की समझ परिवार को प्राप्त होती है। अन्य जागृत परिवार के प्रतिनिधि शिक्षा और स्वास्थ्य–कार्यों में भी भागीदार होते हैं। व्यवस्था में भागीदारी ही मानव के शरीर का उपयोग–सदुपयोग है। अतः परिवार स्वयं में व्यवस्था है और साथ ही, समग्र व्यवस्था में भागीदार है।

परिवार, संबंधों में जीने और व्यवस्था में जीने का सबसे छोटा स्वरूप है। मानव परिवार में इन दोनों स्तरों (संबंध एवं व्यवस्था) में प्रमाणित होने पर ही समाज में प्रमाणित होता है। अतः जागृत

मानव परिवार से विश्व परिवार तक न्याय पूर्वक और व्यवस्था पूर्वक जीता है। दूसरे शब्दों में, जागृत परिवार अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था का धारक–वाहक है। अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था ही जागृत मानव में स्वतंत्रता और स्वराज्य की सहज अभिव्यक्ति है।

अभ्यास व अध्ययन

1. परिवार का लक्ष्य क्या है?
2. परिवार स्वयं एक व्यवस्था है – इसे स्पष्ट कीजिए।
3. समाज में अभय किस तरह स्थापित होता है?

पाठ–10

मानव–संबंध

समझदार मानव परिवार में माता–पिता, भाई–बहन, दादा–दादी, चाचा–चाची के साथ संबंध को पहचानता है। उनके प्रति अपनी ज़िम्मेदारी समझना और उसका निर्वाह करना ही संबंध हैं। जैसे जागृत (समझदार) मानव माता–पिता के साथ परिवार की आवश्यकता के लिए उत्पादन–कार्य करता है, भाई–बहन की जागृति में सहयोग करता है, दादा–दादी के शरीर को पोशित और संरक्षित रखता है। संबंध पहचानना और उसमें भागीदारी करना जागृत मानव में साथ–साथ होने वाली क्रियाएँ हैं। भागीदारी स्वयं और दूसरे के समाधान और समृद्धि के अर्थ में स्पष्ट होती है। संबंध में पूर्णता के अर्थ में भागीदार होने पर जागृत मानव में निरंतर व्यवहार मूल्यों का अनुभव होता है। अर्थात संबंध और मूल्य भी अविभाज्य क्रियाएँ हैं। मूल्य–विहीन कोई संबंध होता नहीं और संबंध–विहीन को मूल्य होता नहीं।

इसी तरह समझदार मानव माँ के परिवार के साथ भी अपना संबंध पहचानता है। जैसे नाना–नानी, मामा–मामी, मौसा–मौसी और उनके परिवार के सदस्यों के साथ वह संबंध स्वीकारता है। मामी के परिवार और मौसा के परिवार के साथ भी वह संबंध में जीता है। अपने भाई और बहन के विवाह के पश्चात उनके पत्नी और पति के परिवार के साथ भी अपना संबंध पहचानता है। इसी प्रकार अपने मित्रों के परिवार को भी वह संबंधी के रूप में स्वीकारता है। इसलिए जागृत मानव का संबंधों का फैलाव परिवार से कुटुंब, कुटुंब से अनेक कुटुंब या ग्राम/नगर, अनेक ग्राम से पूरे विश्व तक फैलता है।

अतः जागृत मानव के बीच सात प्रकार के निश्चित संबंध दिखते हैं जो परिवार से समाज तक के स्तर के होते हैं।

1. माता–पिता–पुत्र–पुत्री
2. भाई–बहन
3. पति–पत्नी
4. मित्र–मित्र
5. गुरु–शिष्य
6. साथी–सहयोगी
7. व्यवस्थागत संबंध

पारिवारिक संबंध जैसे माता–पिता–पुत्र–पुत्री, भाई–बहन, पति–पत्नी की पहचान परिवार में होती है और समाज में उस संबंध अथवा उसमें भागीदारी की स्वीकृति होती है। सामाजिक संबंध जैसे गुरु–शिष्य, साथी–सहयोगी, मित्र–मित्र, व्यवस्थागत संबंध टोला/मुहल्ला या गाँव–समाज के स्तर पर पहचाने जाते हैं और सभी जागृत परिवार को स्वीकृत होते हैं। इन सामाजिक संबंधों में भागीदारी भी समाज के स्तर पर होती है। जैसे मानवीय और सार्थक शिक्षा के लिए गाँव समाधानित गुरुजनों का चयन करता है और वे गुरुजन गाँव–समाज में शिशुओं की शिक्षा अथवा जागृति की ज़िम्मेदारी स्वीकारते हैं।

गुरु–शिष्य का संबंध मानव के जागृत होने के लिए एक अनिवार्य संबंध है। सभी मानव में ज्ञान या सब कुछ जानने की इच्छा होती है। यह हम छोटे से छोटे बच्चे में भी देख पाते हैं। वह स्वयं से ले कर परिवार, समाज, प्रकृति और सम्पूर्ण अस्तित्व के बारे में जानना चाहता है। शिष्य ज्ञान की अपेक्षा में जागृत गुरु से अपनी जिज्ञासा बेझिझक व्यक्त करता है। वह इस विश्वास से जिज्ञासा व्यक्त करता है कि जागृत गुरु उसको उत्तरित करने में सक्षम है। शिष्य को गुरु की श्रेष्ठता के प्रति पूर्ण स्वीकृति ही, इस विश्वास का आधार है। अतः जागृति लक्ष्य की पूर्ति के लिए शिक्षा संस्कार ग्रहण करने, स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत व्यक्ति, जिसमें गुरु का संबंध स्वीकृत हो चुका रहता है, उसे शिष्य कहते हैं।

जागृत मानव अथवा गुरु स्वयं में समाधानित एवं प्रमाणित होता है और दूसरे को समाधान

प्राप्त कराने के लिए तत्पर रहता है। इसलिए जागृति क्रम में अजागृत मानव को अप्राप्त का प्राप्त, अज्ञात का ज्ञात कराने वाले जागृत व्यक्ति को गुरु कहते हैं। अतः गुरु शिष्य की जिज्ञासा उत्तरित करता है और जिज्ञासा की पूर्ति से शिष्य जागृत और सुखी होता है। गुरु–शिष्य के संबंध का निर्वाह मानवीय व्यवस्था में ही संभव हो पाता है जहाँ शिष्य गुरु को समझदार स्वीकारते हुए उनसे सीखने–समझने के लिए इच्छुक रहता है और गुरु स्वयं समाधानित होता है और समझाने–सीखाने के लिए हमेशा तैयार रहता है। मानव गुरु के मार्गदर्शन से जागृत होकर सभी संबंधों में निरंतर न्यायपूर्वक जी पाता है।

शिष्य समझने, सीखने और करने के लिए पूर्ण जिज्ञासा सहित प्रयत्नशील रहता है। अस्तित्व में समझने के लिए मुख्यतः पाँच वस्तु हैं – स्वयं अस्तित्व का सह–अस्तित्वपूर्वक होना; परमाणु का विकास अर्थात परमाणु का गठनशील से गठनपूर्ण परमाणु में जानना, मनाना, पहचानना और निर्वाह करना होना; जागृति अर्थात मानव का मानवीयतापूर्ण आचरण में पारंगत होना और गठनशील परमाणु में रचना–विचरना की निरंतर क्रिया होना। जागृत गुरु, शिष्य को इन पाँचों वस्तु का बोध कराता है और शिष्य स्वयं में समाधान का अनुभव करता है। साथ ही, जागृत गुरु शिष्य को शारीरिक श्रम के अभ्यास से उसे समृद्धिपूर्वक जीने के लिए भी प्रेरित करता है। अर्थात समझने से समाधान और समझकर करने से समृद्धि को प्रमाणित करने पर गुरु शिष्य को जागृत स्वीकारता है और तृप्त होता है। इस पूरी प्रक्रिया की ज़िम्मेदारी एक समझदार गुरु प्रेमपूर्वक स्वीकारता है। अतः शिक्षा–संस्कार नियति क्रमानुषंगीय विधि से, जिज्ञासाओं और प्रश्नों को समाधान रूप में, अजागृत मानव की अवधारणा में प्रस्थापित करने वाले जागृत मानव को गुरु कहते हैं।

मानवीय व्यवस्था में शिष्य समृद्धि के लिए प्रकृति पर श्रमपूर्वक उत्पादन–कार्य करता है और कृषि, गौपालन से ले कर कपड़े, घड़ी, सायकल जैसी अन्य उपयोगी वस्तुओं और यंत्रों को बनाने में अपनी निपुणता, कुशलता बढ़ाता है। अर्थात जागृत गुरुजन शिक्षण संस्थान में शिष्य के निपुणता, कुशलता और पांडित्य तीनों के लिए पर्याप्त अवसर उपलब्ध कराते हैं। निपुणता, कुशलता के लिए संस्थान में उत्पादन संबंधित कार्यशाला होती है जिसमें अन्य कौशल के लिए प्रशिक्षण आयोजित होते हैं और साथ ही संस्थान के लिए उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन होता है। पांडित्य के लिए जागृत गुरु शिष्य का वास्तविकता (अथवा ज्ञान) की ओर ध्यान आकर्षण करता है। शिष्य के समझदार (पांडित्य) होने पर उसके उत्पादन–कार्यों में निपुणता और कुशलता का

प्रयोजन स्पष्ट होता है। समझदार मानव होने पर ही क्या वस्तु का उत्पादन करना है, कैसे और कब करना हैं यह स्पष्ट होता है।

गुरु स्वयं निपुणता, कुशलता और पांडित्य में प्रमाणित होता है। अतः गुरु प्रमाणों का धारक वाहक होता है और इसी कारणवश शिष्य गुरु से प्रभावित होता है और श्रद्धापूर्वक गुरु जैसे होने की कामना करता है। अर्थात प्रमाणिकता पूर्ण गुरुजन ही अस्तित्व सहज सह–अस्तित्व रूप में अजागृत मानव की अवधारणा को ज्ञान से प्रस्थापित करा सकते हैं।

जागृत माता–पिता भी शिशु के लिए गुरु की भागीदारी का निर्वाह कर सकते हैं। अर्थात अनुभव संपन्न माता–पिता शिशु को जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान उपलब्ध कराने की क्षमता रखते हैं।

परिवार और समाज में माता–पिता को आपस में पति–पत्नी के संबंध में भी स्वीकारा जाता है। जागृत पति–पत्नी परिवार और समाज में सभी के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करते हैं और अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था की अवधारणा को साकार करने के लिए संकल्पित रहते हैं। इस प्रयास में परिवार में समाधान और समृद्धि के भाव में जीते हैं और परिवार में उसकी परंपरा पुष्ट करते हैं। समाज में अभय सहित जीते हैं और सभी मानव में अभय की कल्पना प्रेरित करते हैं।

पति–पत्नी के समझदार होने से वे स्वयं विश्वास और श्रेष्ठता (जागृति) के प्रति सम्मान के भाव की निरंतरता में जीते हैं। अर्थात वे स्वयं को समझते हैं, एक दूसरे के जागृत होने से एक दूसरे के प्रति सम्मान का भाव अनुभव करते हैं और एक दूसरे से सहजता से सीखते–समझते हैं। अतः पति–पत्नी का दृष्टा–पद प्रतिष्ठा में प्रमाणित होना और सह–अस्तित्वपूर्वक अस्तित्व को सिद्ध करना ही इस संबंध की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

जागृत पति–पत्नी के संबंध की अभिव्यक्ति को यतीत्व एवं सतीत्व कहते हैं। शोधपूर्वक समझने के लिए जागृति निर्भ्रमता और जागृति सहज निरंतरता के लिए किया गया सम्पूर्ण कार्य–व्यवहार ही यतीत्व है। संकल्प और निष्ठा पूर्वक समझने, जागृत होने के लिये किया गया कार्य–व्यवहार, समझ, प्रक्रिया समुच्चय ही सतीत्व है।

अतः पति–पत्नी का संबंध जागृति के स्तर पर ही स्पष्ट होता है। दोनों जागृत होते हैं तो उनके समझने, सोचने और करने में एक सामंजस्यता होती है। साथ ही, उनका सोचना और

करना परिवार और समाज में समाधान, समृद्धि, अभय और सह–अस्तित्व के अर्थ में ही होता है। अर्थात जागृत दाम्पत्य में निर्णयों में एकरूपता होने से समाज में सर्वशुभ संभव होता है। अतः जागृत पति–पत्नी का आपस में ताल मेल देख और समाज में सर्वशुभ की कामना देख अन्य मानव स्वयं जागृति की ओर प्रेरित होते हैं।

जागृत पति–पत्नी के विचारों में स्पष्टता और सामंजस्यता से परिवार की व्यवस्था सुदृढ़ होती है। विचारों अतः कार्य और व्यवहार में निश्चितता से पति–पत्नी की संतान भी जागृति के लिए प्रेरित होती है। संतान को अपने जागृत माता–पिता के आचरण में न्याय और उसकी निरंतरता दिखती है और इसलिए वह अपने आचरण में न्याय की निश्चितता की संभावना भी देखते हैं। अपितु अजागृत माता–पिता के आचरण में अनिश्चितता दिखती है तो संतान को भी अपने आचरण की निश्चितता की संभावना पर शंका होती है। संतान के होने से पति–पत्नी का शरीर का संबंध भी स्पष्ट होता है। यह शरीर का संबंध उसे बाकि 6 संबंधों से भिन्न करता है। पति–पत्नी का शरीर संबंध संतान प्राप्ति के अर्थ में सार्थक होता है।

सार रूप में, गुरु–शिष्य संबंध में जागृत गुरु शिष्य की जागृति में भागीदार होता है और जागृत पति–पत्नी के संबंध में वे दोनों एक साथ परिवार और समाज में व्यवस्था स्थापित करने में भागीदार होते हैं। गुरु–शिष्य और पति–पत्नी संबंध के साथ–साथ हम समाज में साथी–सहयोगी के संबंध को भी पहचानते हैं जिसमें वे एक दूसरे के साथ व्यवसाय संबंधित कार्यों में भागीदार होते हैं।

साथी–सहयोगी एक सामाजिक संबंध है जिसके आधार पर उसमें व्यवसाय–कार्य होता है। मानवीय व्यवस्था में व्यवसाय लाभ–हानि से मुक्त होता है और समृद्धि के भाव से युक्त होता है। अर्थात जागृत साथी–सहयोगी ही इस संबंध का निर्वाह कर पाते हैं क्योंकि वे समृद्धि के भाव में स्थापित होते हैं और सुविधा–संग्रह की प्रवृति से मुक्त होते हैं।

किसी भी उत्पादन या सेवा संबंधित कार्य की पूर्ति में कोई साथी होता है और कोई सहयोगी होता है। उत्पादन या सेवा–कार्य में प्रमुख ज़िम्मेदारी साथी की होती है क्योंकि उसे उस कार्य से संबंधित पूरी जानकारी होती है और सहयोगी साथी के मार्गदर्शन में वह कार्य पूरा करने में सफल होता है।

इसे हम तीन प्रकार से देख सकते हैं। प्रथम, जैसे घर बनाने के लिए एक जानकार व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है। घर बनाने में निपुण व्यक्ति को साथी कहते हैं और जिसका घर बन रहा है, उसे सहयोगी कहते हैं। साथी, सहयोगी की मदद करता है। यह सेवा–कार्य है। घर बनाने जैसे कार्य की जानकारी होना साथी का दायित्व है और उस कार्य में सहयोग करना सहयोगी का कर्त्तव्य है। किसी और परिस्थिति में यही साथी सहयोगी भी हो सकता है और यह सहयोगी साथी भी हो सकता है। जैसे यह सहयोगी पलंग बनाने में दक्ष है। अतः पलंग बनाने के लिए वह साथी की भागीदारी निभाता है और दूसरा सहयोगी की भागीदारी करता है।

द्वितीय, किसी निर्माण–कार्य में मानव को लोहे की आवश्यकता होती है। कोई व्यक्ति वह निर्माण–कार्य करता है और मानव के लिए पूरक होता है। इस संबंध में एक साथी है और दूसरा सहयोगी है। तृतीय, दर्ज़ी कई वर्ष से कपड़े सिलने का काम करता है, उसमें दक्ष होता है और ग्राम में परिवारों की आवश्यकताओं के लिए कुटीर उद्योग चलाता है। कोई नया व्यक्ति दर्ज़ी के पास वही कार्य सीखने आता है। इस स्थिति में दर्ज़ी उस नए व्यक्ति का साथी होता है और नया व्यक्ति कार्य सीखने–करने में सहयोगी होता है। दर्ज़ी अपने दायित्व का निर्वाह कर नए व्यक्ति के लिए सीखने के लिए पर्याप्त अवसर उपलब्ध कराता है। नया व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह कर निष्ठापूर्वक कार्य सीखता है। कार्य में दक्षता पाने पर, नया व्यक्ति तृप्त होता है, और दर्ज़ी के साथ उस कार्य में स्थापित होता है और कुटीर उद्योग में काम करता है। अर्थात साथी–सहयोगी के संबंध में पूरकता निहित है। अतः मानवीय व्यवस्था में साथी–सहयोगी संबंध ही सहज है और मालिक–नौकर जैसे अमानवीय संबंध असहज और असंभव हैं।

अतः सार रूप में, साथी सर्तोमुखी समाधान प्राप्त व्यक्ति होता है। ऐसे जागृत व्यक्ति का ही, किसी और व्यक्ति के अभ्युदय (जागृति) के लिए साथी होना संभव है। अभ्युदय सर्वजन की चाहना है। इसे सफल बनाना ही मानवीय परंपरा है। सहयोगी पूर्णता अथवा अभ्युदय के अर्थ में मार्गदर्शन अथवा प्रेरक के साथ–साथ अनुगमन करता है और प्रेरक के साथ स्वीकृतिपूर्वक गतित होता है।

जागृत साथी, सहयोगी के साथ, अपने दायित्व का निर्वाह करता है। दायित्व का तात्पर्य परस्पर व्यवहार, व्यवसाय और व्यवस्थात्मक संबंधों में निहित मूल्यानुभूति सहित शिष्टतापूर्ण निर्वाह करना। अर्थात अजागृत मानव के समाधान अथवा न्यायपूर्ण व्यवहार और नियमपूर्ण कार्य के लिए वातावरण उपलब्ध कराना। साथी के दायित्व से प्रेरित सहयोगी अपने कर्त्तव्य का निर्वाह

करता है। जिस कार्य को करने के लिए स्वीकार किये रहता है, उसे करने में निष्ठा को बनाये रखना ही सहयोगी के कर्त्तव्य का निर्वाह है।

अतः पूरकता का काम साथी का होता है और उसको स्वीकारना सहयोगी का कार्य होता है। साथी के समझदार होने से उसका उत्पादन या सेवा कार्य के प्रति ज़िम्मेदार होना स्वाभाविक है। अपितु सहयोगी, साथी की श्रेष्ठता को स्वीकारता है और कार्य को साथी के मार्गदर्शन में निष्ठापूर्वक करता है।

संक्षिप्त में, जागृत मानव गुरु–शिष्य का संबंध पहचानता है और सर्व मानव की जागृति के लिए सार्थक शिक्षा की परंपरा की स्थापना का महत्व समझता है। समझदार मानव पति–पत्नी के संबंध को समझता है और परिवार और समाज में अखंडता और सार्वभौम व्यवस्था की आवश्यकता पहचानता है। समाधानित मानव साथी–सहयोगी के संबंध को स्वीकारता है तो समाज में हर मानव के समझदार और समृद्ध होने की संभावना में विश्वास करता है और उसके लिए प्रयासरत रहता है।

अभ्यास व अध्ययन

1. संबंध और मूल्यों में अंतरासंबंध स्पष्ट कीजिए।
2. पति–पत्नी, गुरु–शिष्य के संबंध में प्रत्येक व्यक्ति की भागीदारी स्पष्ट कीजिए।
3. साथी–सहयोगी के संबंध में दोनों की एक दूसरे के प्रति क्या ज़िम्मेदारी रहती है?

पाठ–11

मानव–मूल्य

व्यवहार दो या दो से अधिक मानव के एकत्रित होने पर या होने के लिए किये गए आदान–प्रदान की क्रिया को कहते हैं। परस्परता में ही जागृत मानव संबंधों में निहित मूल्यों का निर्वाह करते हैं, इससे कम में व्यवहार होता नहीं है। हर मानव में व्यवहार की अपेक्षा बनी रहती है परन्तु जागृति के अभाव में दूसरे को मिलने पर मूल्यों का निर्वाह नहीं हो पाता है। मूल्यों सहित जीना अर्थात हर वस्तु की मौलिकता समझ कर जीना ही मानव के तृप्ति का स्रोत है। अतः तृप्त होने के लिए समझदार अथवा जागृत होना अनिवार्य है।

जैसा कि हम पहले पढ़ चुके हैं कि जागृत मानव 30 मूल्यों को अनुभव करता है – 2 वस्तु मूल्य, 18 व्यवहार मूल्य, 6 मानव मूल्य और 4 जीवन मूल्य। वस्तु की मौलिकता उसकी उपयोगिता और कला से स्पष्ट होती है। वस्तु की उपयोगिता आहार, आवास, अलंकार, दूरगमन, दूरदर्शन, दूरश्रवन संबंधी कार्यों में होती है। सामान्य और महत्व आकाँक्षाओं से संबंधित वस्तुओं की उपयोगिता को और सार्थक तथा सुविधाजनक बनाने का क्रियाकलाप ही कला है। उपयोगिता मूल्य और कला मूल्य के संयुक्त रूप को वस्तु मूल्य कहते हैं। व्यवहार में 9 स्थापित मूल्य जीवन में स्थित होते हैं जिनको जागृत व्यक्ति आपस में मिलकर स्वयं (जीवन) में अनुभव करते हैं और एक दूसरे के साथ 9 शिष्ट मूल्यों सहित व्यक्त होते हैं। एक दूसरे के साथ संबंध में जो निश्चित भागीदारी होती है, उसके अनुसार कुछ निश्चित मूल्यों का एक दूसरे के साथ आदान–प्रदान होता है। ऐसे निश्चित व्यवहार से दोनों तृप्त होते हैं क्योंकि संबंध से निश्चित अपेक्षाएँ की पूर्ति होती हैं। यही न्याय है।

मानव अपने गुरु से न्याय समझने की अपेक्षा रखता है। अतः गुरु का स्वयं समझदार होना व न्याय में प्रमाणित होना आवश्यक है। जागृत मानव ही गुरु की भागीदारी का निर्वाह कर सकता है। ऐसे गुरु के प्रति मानव कृतज्ञ होता है। शिष्य स्वयं गुरु जैसे समझदार होने पर निरंतर कृतज्ञता में जीता है। शिष्य गुरु की समझ पर गौरव अनुभव करता है। उनकी श्रेष्ठता पहचानते हुए उनके जैसे होने की कल्पना करता है, यह उसकी श्रद्धा है। गुरु ममता सहित शिष्य के शरीर की स्वस्थता का

ध्यान रखता है और वात्सल्य के भाव सहित उसके विचारों में समाधान प्रेरित करता है। शिष्य गुरु जैसे अथवा हर समझदार मानव जैसे समाधानित और जागृत होने की क्षमता रखता है, इस विचार से गुरु समझाता है। गुरु के व्यवहार में निरंतर मूल्यों का प्रमाण मिलने पर और स्वयं में गुरु के प्रति कृतज्ञता, गौरव और श्रद्धा की झलक मिलने पर मानव अपनी जागृति के लिए प्रयासरत रहता है और उसमें सफल भी होता है। समाधानित होने पर मानव सभी व्यवहार मूल्यों सहित संबंधों में जीता है।

वस्तु और व्यवहार मूल्यों के अतिरिक्त जागृत व्यक्ति मानव मूल्य और जीवन मूल्य युक्त भी होता है। मानव मूल्य धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा और करुणा है। मानव मूल्य जागृत मानव के स्वभाव को परिभाषित करते हैं। मानव जागृत होता है तो सभी की जागृति के लिए प्रयासरत रहता है। अर्थात अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था के लिए अपना तन, मन, धन का उपयोग, सदुपयोग करता है। दूसरों को वास्तविकता समझाना, मानवीय शिक्षा की परंपरा बनाना; ये जागृत मानव के मूल्यों की सहज अभिव्यक्ति है। इस अध्याय में इन मानव मूल्य पर विस्तार से चर्चा की जाएगी।

जागृत मानव विश्वास के भाव में निरंतर जीता है। जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान को समझना और उसके अनुसार जीना ही स्वयं में विश्वास स्थापित करता है। तीनों ज्ञान में निहित सह–अस्तित्व के नियम की समझ से जागृत व्यक्ति अपने आचरण से आश्वस्त रहता है। स्वयं के आचरण में विश्वास अथवा निश्चित होने से जागृत मानव अन्य मानव के व्यवहार से प्रभावित या विचलित नहीं होता है। जागृत मानव का न्यायपूर्वक जीने में दृढ़ता और निष्ठा बने रहना स्वाभाविक है। वह अपनी इस स्थिरता से तृप्त रहता है और दूसरे में न्याय के भाव का प्रेरणा–स्रोत होता है। यही धीरता है। धीरता युक्त जागृत मानव दूसरे की जागृति के लिए धैर्यपूर्वक क्रियाकलाप करता है।

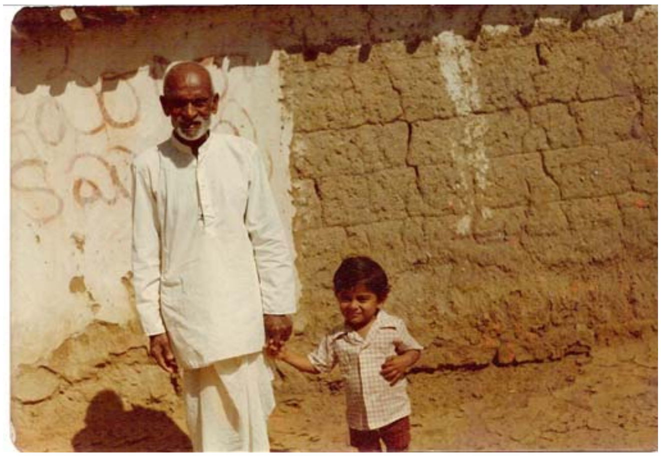

दूसरों को न्याय उपलब्ध कराने में अपनी भौतिक एवं बौद्धिक शक्तियों का नियोजन करना जागृत मानव की वीरता है। समझदार व्यक्ति की दूसरे में समझदारी अथवा न्याय स्थापित करने की चाह स्वाभाविक है। इसलिए वह दूसरे

की जागृति के लिए अपने साधन जैसे घर, गाड़ी, समय, खाना–पीना, इत्यादि का निःसंकोच उपयोग करता है। साथ ही, अपने विचारों को बिना थके दूसरे के साथ बाँटता है अथवा दूसरे की जिज्ञासा को उत्तरित करने के लिए हमेशा तैयार रहता है। स्वयं (जीवन) और शरीर की शक्तियों का नियोजन कर, जागृत मानव दूसरे में मूल्यों को स्थापित करने के लिए प्रयत्न करता है।

दूसरे को समझाने की प्रक्रिया में भी जागृत मानव का स्वयं के प्रति विश्वास पुष्ट रहता है। इसलिए दूसरे के विरोध या प्रतिक्रिया करने पर भी जागृत मानव प्रभावित नहीं होता और धैर्यपूर्वक समझाता है। एक स्थिति में दूसरे में विरोध की भावना समाप्त हो जाती है और वह जागृत मानव के साथ संबंध स्वीकारता है अर्थात उससे समझने के लिए तैयार होता है। यह जागृत मानव की वीरता का प्रमाण है।

प्राप्त समाधान रूपी सुख और सुविधाओं (समृद्धि) को, दूसरों के लिए सदुपयोग करना और प्रसन्न होना, जागृत मानव की उदारता है। जब जागृत मानव दूसरे की समझ के लिए अपना तन, मन, धन अर्पित करता है तब वह उसके प्रति उदारता व्यक्त करता है। उदारता व्यक्त करते समय वह सुखी होता है क्योंकि उसे अपने क्रियाकलाप की सार्थकता मानव लक्ष्य (समाधान, समृद्धि, अभय, सह–अस्तित्व) के अर्थ में समझ में आती है।

अतः धीरता, वीरता, उदारता जागृत मानव में विश्वास का सहज फैलाव है। यह 3 मानव मूल्य मानव की मौलिकता अथवा स्वभाव है। न्याय, दो जागृत व्यक्तियों की आपस में पूरकता को पहचानने पर उन्हें अनुभव होता है। अर्थात व्यवहार में ही न्याय का अनुभव होता है। इसलिए सामने वाला भी समाधानित हो यह जागृत मानव की आवश्यकता है। जागृत मानव विचारों में समाधानित होता है तो व्यवहार में न्यायपूर्वक अभिव्यक्त होता है। मानव धीरता, वीरता और उदारता सहित अपनी परस्परता में न्याय स्थापित करने के लिए प्रयासरत रहता है।

साथ ही, जागृत मानव समाज में अखंडता और व्यवस्था में सार्वभौमिकता की कल्पना करता है। इसी लिए वह सभी की जागृति के लिए चिंतन करता है। सबकी जागृति के लिए मानवीय शिक्षा की परंपरा एक अनिवार्यता है, यह जागृत मानव समझता है। अतः वह मानवीय शिक्षा के लिए अपना कार्य–व्यवहार निर्धारित करता है। अर्थात शिक्षा–संस्कार की व्यवस्था को सजाने के अर्थ में मानव के बाकि तीन मूल्य स्पष्ट होते हैं – दया, कृपा और करुणा। यह तीन मानव मूल्य सार्वभौम व्यवस्था को स्थापित करने के लिए जागृत मानव दूसरे मानव के साथ अभिव्यक्त करता है।

अजागृत मानव को समझाने के लिए जागृत मानव उसकी पात्रता और योग्यता का आंकलन करता है और उसके अनुसार उसे समझाता है। पात्रता का अर्थ है (वास्तविकता को) ग्रहणशीलता और योग्यता का अर्थ है अभिव्यक्त होने की क्षमता। जिसमें पात्रता है और उसके अनुरूप वस्तु (या वास्तविकता की सूचना) नहीं है, उसे वह वस्तु उपलब्ध करा देने की क्षमता अथवा भाव दया है। दूसरे शब्दों में, जिसमें जिज्ञासा है यानि वह सही समझने के लिए तत्पर है, उसे सही समझ उपलब्ध कराना जागृत मानव का दयापूर्ण स्वभाव है।

किसी व्यक्ति के पास वस्तु (की सूचना) है पर उसके अनुरूप पात्रता नहीं है, उसको पात्रता उपलब्ध कराने वाली क्षमता या भाव कृपा है। यथा वह जिज्ञासु नहीं है, परन्तु सही समझने के योग्य है। इस स्थिति में उसे अस्तित्व, जीवन और आचरण की समझ की ओर प्रेरित करना जागृत व्यक्ति का कृपापूर्ण स्वभाव है।

जिसमें पात्रता और वस्तु (की सूचना) दोनों ही नहीं है, उसको उसे उपलब्ध कराने वाली क्षमता या भाव करुणा है। अर्थात जिसमें समझने की तीव्रता नहीं है और उसकी योग्यता भी विकसित नहीं है, उसे समझाना और उसमें ज्ञान के लिए पात्रता और योग्यता बढ़ाना, जागृत मानव का करुणापूर्ण भाव है। इस तरह धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करुणा मानव के 6 मूल्य हैं। धीरता के बाद वीरता संभव है, वीरता के बाद उदारता संभव है और धीरता, वीरता और उदारता के बाद दया, कृपा और करुणा का भाव मानव में संभव है। अर्थात करुणा में बाकि पाँच मूल्य समाये हैं। दया, कृपा, करुणा वह मूल्य है जो एक जागृत शिक्षक अपने शिष्य के प्रति व्यक्त करता है और उसे जागृति की ओर प्रेरित करता है। अर्थात शिक्षा–संस्कार की व्यवस्था में जागृत मानव दया, कृपा, करुणा अभिव्यक्त करता है।

अभ्यास व अध्ययन

1. व्यवहार किसे कहते हैं?
2. धीरता, वीरता, उदारता को स्पष्ट कीजिए।
3. दया, कृपा, करूणा को स्पष्ट कीजिए।
4. अस्तित्व में कितने प्रकार के मूल्य हैं? कौन से?

पाठ–12

सामाजिक पूरकता

जागृत मानव संबंधों में पूरकता पहचानता है। अर्थात दूसरा मेरे सुखपूर्वक जीने में भागीदार है, यह स्वीकारता है। जागृत मानव इस विश्वास से परिवार में न्यायपूर्वक जीता है और तृप्त होता है। वह इसी विश्वास के साथ समाज में सभी मानव के प्रति न्याय का अनुभव करता है। न्याय के वैभव से वह समाज में अखंडता का अनुभव करता है। अखंड समाज के चित्रण में मानव का धर्म और जाति एक है। अर्थात मानव का धर्म सुखपूर्वक जीना है और पूरी मानव जाति ज्ञानावस्था की इकाई है जिसका लक्ष्य और उसके लिए कार्यक्रम व्यवस्था के अर्थ में समान है। अपितु, अजागृत स्थिति में मानव अपने को अनेक धर्म और जाति में बाँट कर देखता है। उसी के आधार पर समुदाय बनाता है और समाज को खंडित करता है। यह अमानवीय समाज का द्योतक है।

जागृत मानव अखंडता में जीता है और व्यवहार में सामाजिक होता है। इसी तरह समझदार मानव व्यवसाय में स्वावलंबी और समृद्ध होता है। व्यवसाय में स्वालंबी होता है यानि वह अपने और परिवार के शरीर के पोषण–संरक्षण के लिए श्रमपूर्वक उत्पादन करने योग्य होता है। साथ ही, वह अपने और अपने परिवार की आवश्यकता समझता है और उसके अनुसार उत्पादन करता है। समझदार मानव आवश्यकता से अधिक का उत्पादन करता है और अधिक को अन्य परिवारों में बांटता है। यही जागृत अथवा समाधानित मानव में समृद्धि के भाव का प्रमाण है।

समाधान और समृद्धि के भाव से ही अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था संभव है। जागृत परिवार समृद्ध होते हैं, तभी आपस में भौतिक वस्तुओं का विनिमय करते हैं। विनिमय की व्यवस्था से ही गाँव/नगर के सभी परिवारों के शरीर की आवश्यकता की पूर्ति होती है। अर्थात परिवार में समृद्धि अथवा आवश्यकता की पूर्ति अकेले मानव–परिवार का कार्यक्रम नहीं है। मानव या परिवार की आवश्यकता की पूर्ति के लिए अन्य परिवारों की भागीदारी रहती है।

जैसे की हम पहले पढ़ चुके हैं कि परिवार की शरीर की आवश्यकता आहार, आवास, अलंकार है। इन्हें सामान्य आकांक्षा भी कहते हैं। आहार में रोटी, भात, सब्जियाँ, दाल, दही, दूध, घी जैसी

वस्तुएं होती हैं। इसके लिए गेहूं, चावल, दाल, चूल्हा, चकला–बेलन और अन्य बर्तन की आवश्यकता होती है। आवास में पलंग, दरवाजें, खिड़कियाँ, आंगन, रसोई–घर होते हैं। साथ ही, घर बनाने में मिट्टी, पत्थर, लकड़ी, लोहा, सीमेंट और अन्य यंत्र का उपयोग होता है। अलंकार में कपड़े, जुराब, स्वेटर, शॉल, टोपी, रज़ाई जैसी वस्तुएं होती हैं। इनके लिए सूत, ऊन, सुई–धागा, सिलाई की मशीन, इत्यादि का प्रयोग होता है।

आहार के लिए गेहूं, चावल, सब्ज़ी, मसाले, दालें उगाते हैं; दूध–दही के लिए गौपालन करते हैं; गेंहू, चावल आदि को उगाने के लिए खेत तैयार करते है; खेत के लिए खाद तैयार करते हैं, खेत जोतते हैं; भोजन पकाने के लए चूल्हे बनाते हैं, तेल का उत्पादन करते हैं। इन सभी कार्यों के लिए गाँव–समाज के अन्य लोग कार्यरत रहते हैं। यह सभी कार्य हर परिवार स्वयं करे, यह संभव नहीं है। मानवीय व्यवस्था में इन उत्पादन–कार्यों की ज़िम्मेदारी गाँव के सभी जागृत परिवार एक साथ स्वीकारते हैं। अर्थात कुछ परिवार गेहूँ, चावल का उत्पादन करते हैं, कुछ तेल का उत्पादन करते हैं, कुछ चूल्हा बनाने के लिए कुटीर उद्योग स्थापित करते हैं, कुछ खाना पकाने में सूर्य ऊर्जा का उपयोग करने वाले यंत्र बनाते हैं। ये ज़िम्मेदारियाँ उत्पादन–कार्य समिति सुनिश्चित करती है और विनिमय–कोष समिति परिवारों के बीच इन भौतिक वस्तुओं के आदान–प्रदान की विधि तय करती है। मानवीय समाज में प्राकृतिक ऐश्वर्य पर उत्पादन आवर्तनशील प्रक्रिया से होता है। अर्थात मिट्टी की उर्वकता बनी रहे, वातावरण में हवा–पानी स्वच्छ रहे, उस आधार पर उत्पादन होता है। इसलिए आवर्तनशील विधि से आहार को उगाने, भोजन को पकाने के लिए जागृत मानव अन्य यंत्रों का निर्माण करते हैं।

आवास बनाने के लिए बढ़ई और मिस्त्री के काम में निपुणता की आवश्यकता होती है। साथ ही, काँच, सीमेंट और औज़ार की आवश्यकता होती है। पत्थर लकड़ी, बाँस जैसी सामग्री को इकट्ठा करने, ज़मीन को चौरस करने की आवश्यकता होती है। इन सभी कार्यों के लिए अन्य लोग अपना श्रम लगाते हैं,

कुछ उत्पादन की वस्तुओं के लिए लघु उद्योग स्थापित करते हैं, कुछ सामग्री के लिए गाँव में उपयुक्त पेड़ लगाते हैं इत्यादि। आवास को बनाये रखन के लिए अथवा उसकी मरम्मत करने के लिए भी कुशल व्यक्ति की आवश्यकता होती है। अतः आवास बनाने में और बनाये रखने में अन्य व्यक्तियों का सहयोग रहता है। यह पूरकता जागृत मानव पहचानता है। मानवीय सभ्यता में यह सहयोग सेवा–कार्य होता है। साथ ही, मानवीय परंपरा में आवास शरीर के संरक्षण के अर्थ में होता है। अर्थात आवास की बनावट इस प्रकार होती है कि वह शीत ऋतु में गर्म रहता है और ग्रीष्म ऋतु में ठंडा रहती है। अतः इस प्रकार के आवास में रहने से मानव–शरीर स्वस्थ व संरक्षित रहता है।

अलंकार के लिए कपास उगाते हैं। कपास से सूत और सूत से कपड़े बनाते हैं। कपड़े बनाने के लिए मशीनों का उत्पादन होता है। स्वेटर, शॉल और अन्य कपड़ों के लिए भेड़ पालते हैं और उनसे ऊन लेते हैं। ऊन की बुनाई करते हैं और गर्म कपड़े बनाते हैं। शीत ऋतु में ऊनी कपड़ों से शरीर सुरक्षित रहता है और ग्रीष्म ऋतु में सूत के कपड़ों से शरीर संरक्षित रहता है। कपड़ों के रख–रखाव के लिए साबुन व अन्य पदार्थ का आवर्तनशील विधि से उत्पादन होता है। मानवीय परंपरा में इन सभी प्रक्रियाओं में अन्य परिवार अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर कार्य करते हैं। इस तरह गाँव में अन्य परिवार के सहयोग से सभी अपने अलंकार की आवश्यकता की पूर्ति के प्रति आश्वस्त होते हैं। इस आश्वस्ति का आधार स्वयं और दूसरे के प्रति निरंतर विश्वास है।

मानव की सामान्य आकाँक्षाओं के साथ–साथ उसकी महत्व आकाँक्षाएँ भी होती हैं। मानवीय सभ्यता में यह आकाँक्षाएँ समाज–गति को बनाये रखने के अर्थ में होती है। समाज की गति के लिए गाँव–गाँव और अन्य इलाकों के बीच कृषि, स्वास्थ्य, शिक्षा–संबंधित और अन्य सूचनाओं का आदान–प्रदान होता है, भौतिक वस्तुओं का विनिमय होता है, उत्सवों में भागीदार होने के लिए लोगों का आना–जाना रहता है। इसलिए गाड़ी, रेलगाड़ी, फोन, टी.वी., रेडियो, कंप्यूटर जैसी महत्व आकाँक्षाओं का उपयोग–सदुपयोग होता है।

महत्व आकाँक्षाओं की वस्तुओं के निर्माण में अन्य व्यक्तियों की भागीदारी होती है। जैसे गाड़ी बनाने के लिए कोई इंजन बनाता है, कोई ईंधन का उत्पादन करता है, कोई गाड़ी का ढ़ाँचा बनाता है, कोई गाड़ी की सीटें बनाता है, कोई पहियों का उत्पादन करता है और कोई उनमें हवा भरने

के लिए यंत्र बनाता है इत्यादि। इस तरह गाँव में अन्य परिवार यह अलग–अलग कार्य करके गाड़ी बनाते हैं। इसी तरह दूसरे गाँव अन्य महत्वाकाँक्षाओं की वस्तुओं का उत्पादन करते हैं और गाँव आपस में इनका विनिमय करके समाज की गति बनाये रखते हैं। समाज की गति समाधान, समृद्धि, अभय, सह–अस्तित्व के अर्थ में ही सार्थक होती है। अतः जागृत मानव समाज की महत्वाकाँक्षाओं की पूर्ति के लिए स्वयं की और सभी परिवारों की पूरकता पहचानता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति होने से वह तृप्त होता है। मानवीय व्यवस्था में महत्वाकाँक्षाओं की वस्तुओं के निर्माण के लिए आवर्तनशील प्रक्रियाओं का उपयोग होता है और ऐसी और प्रक्रियाओं पर शोध होता है। वस्तुओं और अन्य यंत्रों का प्रकृति की व्यवस्था को बनाये रखते हुए उपयोग होना ही मानवीय परंपरा का द्योतक है। अतः जागृत परिवार मानव व्यवसाय में समृद्धि के लिए समाज की पूरकता को पहचानता है।

अभ्यास व अध्ययन

1. हमारे आहार, आवास, अलंकार के लिए किस प्रकार से अन्य लोगों की भागीदारी होती है?
2. हमारी सामान्य और महत्वाकाँक्षाओं की वस्तुओं के लिए समाज कैसे पूरक है?
3. सदुपयोग एवं सुरक्षा को स्पष्ट कीजिए।
4. अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था को स्पष्ट कीजिए।

पाठ–13

उत्सव

मानव परिवार में रहते हुए एक मुहल्ले, एक गाँव, अनेक कुटुंब का हिस्सा होता है। मुहल्ला–कुटुंब–गाँव संयुक्त रूप में एक बड़े समाज की तरह पहचाना जाता है। इन सभी स्तर पर मानव जागृत होने पर दूसरों के साथ संबंध पहचानता है और इन सभी को अपनी जागृति में सहायक पाता है। शैशव–अवस्था से अन्य जागृत व्यक्ति मानव के शारीरिक और मानसिक स्वस्थता में भागीदार होते हैं। शारीरिक स्वस्थता के लिए समझदार परिवार शिशु का आहार, आवास, अलंकार सुनिश्चित करता है। शिशु के आहार, आवास, अलंकार की पूर्ति के लिए परिवार के अतिरिक्त गाँव के सदस्य भी श्रम करते हैं। मानसिक स्वस्थता के लिए जागृत परिवार के साथ–साथ जागृत गुरुजन भी शिशु के सोच–विचार में स्पष्टता के लिए शिक्षा उपलब्ध कराते हैं। मानवीय शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए गाँव के सदस्य शिक्षण–संस्था स्थापित करते हैं। शिक्षण–संस्था में जागृत गुरुजन की संगति में मानव स्वयं से लेकर अस्तित्व को समझता है और जागृत होता है। जागृत होने पर ही वह मानवीयता पूर्ण आचरण में प्रमाणित होता है।

अतः मानवीय शिक्षा मानव की जागृति की यात्रा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। शिक्षा से मानव जागृत होता है और निरंतर सुखपूर्वक जीता है। समाधानित होने से वह सभी आयामों (परिवार, समाज, प्रकृति, अस्तित्व) में व्यवस्थापूर्वक जी पाता है। यह जागृत मानव का संस्कार है। जागृत परिवार और मानवीय समाज में जागृत मानव के संस्कारों की पुष्टि होती है। अतः शिक्षा, संस्कार बनाने की एक व्यवस्था है। इसलिए शिशुकाल में शिक्षा आरम्भ करना एक अनिवार्यता के साथ–साथ एक उत्सव भी है।

मानवीय सभ्यता में परिवार शिशु की शिक्षा के आरम्भ पर उत्साहित होते हैं क्योंकि उनकी संतान को मानवीयता से जीते हुए देखने की अपेक्षा होती है। जागृत परंपरा में इस अपेक्षा की पूर्ति होना स्वाभाविक है क्योंकि संतान समझदार हो जाये, यही संतान को पालने का प्रमुख उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति की कामना करते हुए शिक्षा आरम्भोत्सव मनाया जाता है। शिशु की

शिक्षा आरंभ करने की तिथि पर जागृत परिवार कुटंब के सदस्य, मित्रजन, बंधु–बांधव को बुलाता है और वह सब साथ मिलकर शिशु की जागृति के लिए कामना व्यक्त करते हैं। बड़े शिशु को आशीष प्रस्तुत करते हैं और माता–पिता को शिशु के विकास के लिए मार्गदर्शन देते हैं। उपस्थित श्रेष्ठ व्यक्ति शिक्षा के महत्व और आवश्यकता पर चर्चा करते हैं और शिक्षा के प्रयोजन को सभी के लिए स्पष्ट करते हैं। शिक्षा से शिशु की स्वयं में जाँचने की प्रक्रिया में गति होना, उसका वास्तविकता की ओर ध्यान–आकर्षण होना ही मानवीय व सार्थक शिक्षा का संकेत है। शिक्षा से शिशु का स्वयं में विश्वास हो, वह समझदार होकर श्रमपूर्वक उत्पादन कार्य करे, न्याय में स्थापित होकर समाज में अखंडता और व्यवस्था के लिए प्रयासरत रहे; यह मानवीय शिक्षा का प्रमाण है। इस मानवीय शिक्षा की ही कामनाएँ इस उत्सव पर प्रस्तुत लोग व्यक्त करते हैं।

शिशु की मानवीय शिक्षण–संस्था में समझने की गति बनी रहती है और जागृत परिवार और गाँव में समझ–सहित जीने की गति बनी रहती है। जीने की प्रक्रिया में शिशु के विकास का समय–समय पर मूल्यांकन होना भी आवश्यक है। शिशु का जन्मदिन उसके मूलयांकन के लिए एक सुखद अवसर है। इसी लिए जन्मदिन भी जागृत मानव के लिए एक उत्सव है। इस दिवस वर जागृत परिवार के मित्रजन, गुरुजन और कुटुंब के अन्य सदस्य शामिल होते हैं। शिशु अपने पिछले वर्षों का आंकलन करता है – क्या समझा, क्या सार्थक कार्य सीखा इत्यादि। उत्सव में उपस्थित कुछ विशिष्ट (समाधानित) लोग अपना मूल्यांकन भी करते हैं और शिशु का कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों पर ध्यानाकर्षण करते हैं। इस तरह शिशु को कुछ विषयों पर सोच–विचारने का अवसर मिलता है और उत्सव में उपस्थित बाकि लोगों, विशेषकर आगे की पीढ़ी को भी श्रेष्ठ व्यक्तियों के मूल्यांकन से प्रेरणा मिलती है। युवावस्था में स्वयं और अस्तित्व को समझने पर युवक जन्म दिवस पर अपना सत्यापन प्रस्तुत करता है और अपने आगे के कार्यक्रम के लिए मार्गदर्शन लेता है।

मूल्यांकन की प्रक्रिया में बालक या युवक ज़िम्मेदारी से सबके सामने प्रस्तुत होता है। अपनी समझ को व्यक्त करने से उसे क्या समझ में आया है, उसको क्या समझना शेष है; यह उसे और उपस्थित गुरुजन को समझ में आता है। मूल्यांकन के आधार पर बालक या युवक के विकास में सहयोग के लिए समझदार

गुरुजन, माता–पिता आगे की योजना बनाते हैं। जन्म दिवस पर अपने परिवार और कुटुंब की उपस्थिति में अपनी समझ के स्तर की अभिव्यक्ति करने से अपनी जागृति के लिए निष्ठा पुष्ट होती है और मानवीयता से जीने के लिए संकल्प और दृढ़ होता है। इस तरह जन्मदिन उत्सव शिशु की जागृति में सहायक है और अग्रिम पीढ़ी के लिए प्रेरणादायक है। इसीलिए इसे जन्मदिन संस्करोत्सव भी कहते हैं क्योंकि इस उत्सव पर सार्थक वार्तालाप, स्व–मूल्यांकन इत्यादि से शिशु और अग्रिम पीढ़ी के संस्कार बनते हैं और समझकर जीने की परंपरा पुष्ट होती हैं।

अभ्यास व अध्ययन

1. शिक्षा का क्या उद्देश्य है?
2. शिक्षा आरंभ उत्सव का क्या महत्त्व है?
3. जन्मदिन उत्सव का क्या प्रयोजन है?
4. शिक्षा आरंभ उत्सव और जन्मदिन उत्सव को संस्कारोत्सव क्यों कहते हैं?

पाठ–14

मानव इतिहास

मानव हजारों वर्षो से इस धरती पर रह रहा है। इन वर्षों में वह प्रारंभ से ही भयभीत एवं संघर्षरत रहा। इसी क्रम में भय के कारण, भय–मुक्त होने के उपायों को सोचता रहा। ये उपाय वैचारिक इतिहास कहलाते हैं। पूरे विश्व में भिन्न–भिन्न स्थानों पर एक ही प्रकार से सोचा गया। इन सबके मूल में एक रहस्यमय एवं सर्वशक्तिमान सत्ता को माना गया। भिन्न–भिन्न भू–भागों में भिन्न–भिन्न भाषा प्रचलित थी, इसलिए उस सर्वशक्तिमान को अलग–अलग नाम दिये गए। सर्वशक्तिमान का तात्पर्य – जिसके पास सारी शक्ति है। जो पूरी सृष्टि को बनाता है, पूरी सृष्टि को पालता है, एवं पूरी सृष्टि को नष्ट करता है। रहस्यमय का तात्पर्य है इसे मनुष्य समझ नहीं सकते या इसे सभी मनुष्य समझ नहीं सकते, कोई–कोई व्यक्ति समझ सकते हैं। जो इन्हें समझ सकते हैं वे व्यक्ति गुरू, ईश्वर के दूत आदि कहलाते रहें।

प्रारंभ में मानव प्राकृतिक एवं पशु–भय से अत्यधिक पीड़ित रहा। इसलिए रहस्यमय सत्ता को मानने लगा। गुरू एवं दूत ने यह बताया कि इस रहस्यमय शक्ति को प्रसन्न करने का उपाय करना चाहिए। यही पूजा–पाठ का प्रारंभिक स्वरूप था। पूजा–पाठ के साथ–साथ एक विशेष प्रकार की जीवन शैली एवं व्यवहार–पद्धति को भी इंगित किया। ये मौखिक रूप में रहे। इन्हें धर्म नाम दिया। इसके विपरीत कार्य–कलाप को अधर्म नाम दिया। पूरे विश्व में अनेक स्थानों पर अनेक व्यक्ति गुरू या ईश्वर के रूप माने गए। उन सबने अनेक उपदेश दिए। जीवन शैली या धर्म बताया। श्रेष्ठतम आचरणों को बताया–जिससे ईश्वर प्रसन्न होते हैं। इसलिए इन्हें सम्मिलित रूप में आदर्शवादी विचारधारा भी कहते हैं। किसी एक श्रेष्ठतम आचरण सम्पन्न सत्ता को स्वीकारना तथा श्रेष्ठतम आचरण सम्पन्न मानव को स्वीकारना ही आदर्शवादी विचार है।

धीरे–धीरे भाषा एवं लिपि का विकास होना एवं समाज में इनकी स्थापना होने पर ये पवित्र ग्रंथ के रूप में लिखे गए। पूरी मानव जाति इनमें से एक या कई पवित्र ग्रंथों पर आस्था करती रही। मानव जाति के इतिहास में हज़ारों वर्षों का काल–खण्ड इस प्रकार के विचारधारा में

समर्पित दिखाई देता है।

सभी आदर्शवादी विचारधारा में स्वर्ग एवं नर्क को माना गया। अच्छे कार्य करने पर अर्थात धर्म के अनुसार चलने पर स्वर्ग की प्राप्ति होती है, धर्म के विपरीत चलने पर नर्क में जाना होता है – ऐसा माना गया। स्वर्ग में सभी प्रकार के सुख सहज उपलब्ध होते हैं एवं नर्क में केवल दुःख एवं यातनाएँ मिलती हैं – ऐसा माना गया है। पूरी मानव जाति इन आदर्शवादी विचारधारा को मानती रही, स्वर्ग में जाने की कामना करती रही, नर्क से बचने का उपाय करती रही। इस प्रकार मानव ठीक से रहे, इसके लिए 3 प्रकार के कार्यक्रम प्रचलित हो गए। प्रथम भय, द्वितिय प्रलोभन एवं तृतीय आस्था। भय का तात्पर्य नर्क का भय, प्रलोभन का तात्पर्य स्वर्ग के भोगों का प्रलोभन एवं आस्था का तात्पर्य है गुरू, ईश्वर एवं पवित्र ग्रंथों को सत्य मानना, उनकी कृपा से स्वर्ग मिलना, उनकी कृपा से सारे कष्ट जैसे रोग, अभाव, युद्ध, प्राकृतिक प्रकोपों से मुक्ति पा जाना। इस प्रकार आदर्शवादी विचारधारा की देन आस्था है। जंगल युग से ही भय एवं प्रलोभन मानव में बना ही रहा।

आस्था में किसी सत्य को मानना प्रमुख बात रही। किसी श्रेष्ठ आचरण को मानना प्रमुख बात रही। इस प्रकार आस्था के उदय के साथ, भौतिक वस्तुओं के अलावा, पाँचो ज्ञानेन्द्रियों से भिन्न किसी सत्य के होने की स्वीकृति हुई। आस्था में मानना बन गया, जानना नहीं बना। जानना संभव नहीं हुआ।

आदर्शवादी विचारधारा के साथ जीते हुए अधिकांश व्यक्ति ईश्वर को जान नहीं पाये। सभी पवित्र ग्रंथियों को समझ नहीं पाए इसलिए रहस्य बढ़ गया। इसी के साथ कई प्रकार के आदर्शवादी विचारधारा को मानने वाले समुदाय आपस में मिले। उनमें कई मान्यताएँ एक जैसी भी मिली एवं अनेक मान्यताएँ एक दूसरे से भिन्न पाई गई। एक पवित्र ग्रंथ में किसी आचरण को श्रेष्ठ माना गया, दूसरे समुदाय में वह नेष्ट माना गया। इस प्रकार आदर्शवादी विचारधारा में अनेक मतभेद प्रकट हो गए। लोगो में इनके प्रति शंका भी हुई, अन्य समुदाय के प्रति द्वेष हुआ। अनेक युद्ध भी हुए। इसी बीच गणित एवं खगोलशास्त्र के शोध के समय कुछ बातें सामने आई जो किसी पवित्र ग्रंथ के विपरीत थी। पहले यह मान्यता थी कि पृथ्वी स्थिर है एवं सूर्य इसके चारों ओर घूमता है। शोध में परिणाम इसके विपरीत आए – सूर्य स्थिर है एवं पृथ्वी इसके चारों ओर घूमती है। इससे पवित्र ग्रंथ के प्रति शंका पैदा हो गई। हर दिशा में पुनः शोध करने में लोग प्रवृत्त हुए –

नई–नई मान्यताएँ आई। इन मान्यताओं को भौतिकवादी विचारधारा कहा गया। इसमें मुख्य रूप से यह माना गया कि रहस्यमय एवं सर्वशक्तिमान सत्ता का अस्तित्व नहीं है। पूरी सृष्टि को समझा नहीं गया है। इन्हें समझा जा सकता है। दूसरी बात यह आई कि सभी मनुष्य की तृप्ति भौतिक सुख एवं सुविधाओं से हैं। भोगों से ही मनुष्य सुखी होता है। आगे और शोध होते रहे। उनमें यह निष्कर्ष निकला कि पूरी सृष्टि में द्वन्द बना है, इसी के कारण सृष्टि–कार्य चलते हैं। सृष्टि में घटनाएँ अनिश्चित रूप से घटित होती रहती है। इसका कारण इसकी मूल इकाई में भी अनिश्चयता है। इसे अस्थिरता–अनिश्चयता मूलक भौतिकवादी विचार कहते हैं। धीरे–धीरे भौतिकवादी विचारधारा की स्वीकृति बढ़ी। लोगों में यह आशा बनी की इस माध्यम से सृष्टि को समझ लेंगे। सारे दुःख एवं कष्टों से मुक्त हो जाएंगे। वैज्ञानिक प्रयोगों के फल–स्वरूप मशीने बनीं, भोग वस्तुओं का उत्पादन बढ़ गया। दूरदर्शन, दूरश्रवण एवं दूरगमन के साधनों की प्रचुरता हुई। स्वर्ग के कल्पित भोग पृथ्वी पर साकार होने लगे। भौतिकवादी विचार को सत्य एवं आवश्यक मान लिया गया।

आज की स्थिति में मानव सुख के लिए भौतिकवादी विचारों एवं वैज्ञानिक उपकरणों पर आश्रित हैं परन्तु दुःख एवं संकट की घड़ी में आस्थावादी विधि से दुःख एवं कंकट से मुक्ति चाहने लगा है। भौतिकवादी प्रयोगों के कारण पर्यावरण असंतुलन हो गया है। भूमि का जल स्तर गिर गया है। युद्ध के भयंकर अस्त्र–शस्त्रों के संग्रह से विनाश का खतरा बढ़ गया है।

चौथा इतिहास सांस्कृतिक इतिहास है। सांस्कृतिक इतिहास विचारधारा के इतिहास के साथ–साथ चलता हुआ दिखता है। आदर्शवादी विचारधारा के पूर्व से ही संस्कृति को निम्न 5 स्वरूप मे पहचाना गया :

1. कपड़े पहनने का तरीका एवं अलंकार का तरीका

2. अन्न, वस्तुएँ एवं संतान प्राप्ति पर उत्सव मनाने का तरीका

3. विवाह के रीति–रिवाज

4. मृत्यु पर शोक–संवेदना व्यक्त करने का तरीका एवं रीति रिवाज

5. घर–द्वार की सजावट, गीत, संगीत एवं नृत्य की विविधता।

प्रत्येक समुदाय में ये तरीके भिन्न–भिन्न होते हैं। इनका एक आधार उस स्थान की जलवायु एवं उपलब्ध वस्तुएँ भी हैं। कुछ आधार मान्यताएँ हैं। ये मान्यताएँ प्रधानतः आदर्शवादी विचारधारा से प्रेरित हैं। इनमें पवित्र ग्रंथ एवं श्रेष्ठ महापुरूषों के महिमा वर्णण करते हुए गीत, महापुरूषों के शरीर यात्राकाल में घटी घटनाओं का वर्णण, उनके चित्र एवं मूर्तियाँ प्रमुख हैं। स्थान विशेष में पाए जाने वाले फल, फूल, पत्ते, काष्ट, सुगंधित द्रव्य, रंग, औषधियाँ, वस्त्र, अलंकार द्वारा सज्जा कार्य एवं इनका आदान–प्रदान करना सहायक वस्तुओं में गण्य रहे।

भौतिकवादी विचारधारा के विस्तार के बाद सहायक वस्तुओं में परिवर्तन हुए हैं। स्थान विशेष के अलावा पूरे विश्व में उपलब्ध वस्तुओं को लाना एवं आदान–प्रदान करना इसमें जुड़ गया है। भक्तिवादी गीत एवं कहानियों में काफी कमी हुई है। कुछ नए उत्सव के तरीके ढूंढे गए है जिनमें कई प्रकार के भोजन, भोगवादी संगीत–गीत एवं नृत्य होते हैं। इन्हीं कार्य में लगे व्यक्तियों का सम्मान एवं उनके भाषणों का आयोजन होता है।

इस प्रकार एक समुदायों के महापुरूष तथा रीतिरिवाज़ दूसरे समुदाय द्वारा कम सम्मानित होने के कारण भोगवादी कार्यक्रमों की प्रधानता संस्कृति के रूप में आज दृष्टव्य है।

अभ्यास व अध्ययन

1. वैचारिक इतिहास क्या हैं?
2. आदर्शवादी विचारधारा के साथ कौन–कौन–सी मान्यताएँ जुड़ी हैं?
3. भौतिकवादी विचारधारा के साथ कौन–कौन–सी मान्यताएँ जुड़ी हैं?
4. संस्कृति को कौन–कौन से स्वरूपों में पहचाना गया है?
5. भौतिकवादी विचारधारा के प्रभाव में संस्कृति का स्वरूप किस तरह से आज दिखाई देता है?

पाठ–15

मानवीय परम्परा

सभ्यता, संस्कृति, विधि और व्यवस्था मानव के लिए अनिवार्य हैं। इन चारों को संयुक्त रूप में मानव परम्परा कहा जाता है। यह जीवन के मान्यताओं की परम्परा होती है। मनुष्य भ्रमित हो या जागृत हो इन चारों भाग, सभ्यता, संस्कृति, विधि और व्यवस्था, में जीता है। भ्रमित होने पर इनका स्वरूप सार्वभौम एवं सार्वकालिक नहीं होता बल्कि स्थान एवं समय विशेष से बंधा रहता है। इस कारण इसे शिक्षा का भाग बनाकर लोकव्यापीकरण नहीं किया जा सकता। इसे रूढ़ी कहते हैं। यही चारों अवयव सार्वभौम एवं सर्वकालिक होने पर शिक्षा–संस्कार प्रक्रिया द्वारा लोकव्यापीकरण हो सकता है एवं इसे आचरण में लाया जा सकता है। इसे समझ या जानना कहा जाता है।

मानव–सभा के रूप में जीना सभ्यता कहलाता है। सभा के रूप में जीना परिवार से प्रारंभ होते हुए सम्पूर्ण विश्व तक पहुँचता है। परिवार सभा के रूप में जीना परिवार सभा कहलाता हैं एवं विश्व में सभा के रूप में जीना विश्व परिवार सभा कहलाता है। व्यवस्था को चरितार्थ करना अथवा आचरण में लाना सभा के रूप में जीना है। इसे ही सभ्यता कहते हैं। मानवीय व्यवस्था का स्वरूप सार्वभौम व्यवस्था है। सार्वभौम व्यवस्था की समझ पूर्वक प्रत्येक परिवार से विश्व परिवार तक जीना 'मानवीय सभ्यता' कहलता है। सार्वभौम व्यवस्था की स्वीकृति के बिना विभिन्न अवसरों पर अपने एवं पराए की दीवार बनती है। यही मानव समुदायों में द्वेष एवं संघर्ष का कारण बनता है।

मानव–मानव साथ–साथ उत्सवित होना संस्कृति कहलाता है। सफल होना ही प्रसन्नता है एवं प्रसन्नता को व्यक्त करना ही उत्सव कहलाता है। अतः संस्कृति के 2 प्रमुख भाग होते हैं। प्रथम है सफलता का अवसर एवं द्वितीय है प्रसन्नता को विभिन्न अवसरों पर व्यक्त करने का तरीका। सफलता के अवसरों में किसी परिवार में शिशु जन्म होना, विद्याध्ययन प्रारंभ होना, विद्यालय पूर्ण होना, विवाह, आदि पहचाने गए हैं। इसी के साथ कोई सामाजिक दायित्व एवं व्यवस्था में दायित्व

ग्रहण जैसे अवसरों पर उत्सव होता है। किसी दायित्व को पूरा करने के उपरान्त उससे विदाई भी उत्सव के रूप में होता है। इन्हीं अवसरों पर मृत्यु भी एक घटना है, समुदायों में इसे शोक के रूप में मनाया जाता है। शोक या वियोग को व्यक्त करना भी संस्कृति का भाग होता है। उत्सव मनाने के क्रम में अनेक प्रकार की वस्तुओं का प्रयोग होता है। इसमें स्थानीयता की प्रमुखता होती है। उत्सव मनाने के क्रम में सार्वभौम एवं सार्वकालिक अवधारणाओं सहित जीना अखण्ड समाज की अभिव्यक्ति होती है। इसके विपरीत स्थान, समय से सीमित मान्यताएँ अनेक समुदायों का कारण बनता है। ये ही रुढ़ी के नाम से पहचाने जाते हैं। ये रूढ़ियाँ ही परस्पर समुदायों में स्पर्धा, विरोध, द्वेष, संघर्ष का कारण होते हैं। मानव जाति एक, मानव लक्ष्य समान की समझ के साथ जीना ही अखण्ड समाज है। इस भाव से मनाए गए उत्सव ही मानवीय संस्कृति है।

मानव के जागृति के नियम को विधि कहा जाता है। अस्तित्व, सह–अस्तित्व के रूप में है अतः सह–अस्तित्व ही प्रमुख नियम है एंव सभी नियमों का आधार है। पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था एवं ज्ञानावस्था (मानव) के नियम भिन्न–भिन्न हैं। मानव के लिए बौद्धिक नियम, सामाजिक नियम एवं प्राकृतिक नियम होते हैं। इन नियमों के साथ–साथ न्याय, धर्म (समाधान एवं व्यवस्था) एवं सत्य भी विधि है। जीव अवस्था में वंशानुषंगीयता ही नियम है। प्राणावस्था में बीजानुषंगीयता एवं पदार्थावस्था में परिणाम अनुषंगीयता ही नियम है। चारों अवस्था के नियम को समझना ही विधि का उद्देश्य है। मानव परंपरा में विधि को लिखित रूप में रखा जाता है। शिक्षा–संस्कार प्रक्रिया द्वारा विधि का अध्ययन कराया जाता है। आचरण में विधि का प्रमाण होता है। इस प्रकार लिखित ग्रंथ, अध्ययन–अध्यापन एवं आचरण का संयुक्त रूप ही विधि है। इनमें से कोई भी एक भाग छूटने पर विधि का प्रमाण नहीं होता।

विधि के अनुसार योजना एवं इसका क्रियान्वयन ही व्यवस्था है। मानवीय व्यवस्था पाँच आयामों की व्यवस्था है। यह शिक्षा–संस्कार, स्वास्थ्य–संयम, न्याय–सुरक्षा, उत्पादन–कार्य एवं विनिमय–कोष के रूप में है। इसमें से प्रथम दो आयाम, शिक्षा–संस्कार एवं स्वास्थ्य–संयम व्यवस्था के स्रोत हैं। शेष तीन आयाम इसका क्रियान्वयन है। व्यवस्था का प्रमाण सार्वभौम व्यवस्था की समझ पूर्वक प्रत्येक वयस्क मनुष्य के जीने पर ही होता है।

विधि = मानव जागृति का प्रमाण = नियम, न्याय, धर्म, सत्य का प्रमाण

↓

व्यवस्था = सार्वभौम व्यवस्था की योजना = 5 आयाम की व्यवस्था

↓

भागीदारी

↓ ↓

अखण्ड समाज / सार्वभौम व्यवस्था

↓ ↓

संस्कृति / सभ्यता

इस प्रकार सभ्यता, संस्कृति, व्यवस्था एवं विधि अविभाज्य रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति इसमें भागीदारी करता ही है। सह–अस्तित्व की समझ के साथ जीने पर मानवीय सभ्यता, मानवीय संस्कृति, मानवीय विधि एवं मानवीय व्यवस्था होती है। सह–अस्तित्व के समझ के बिना जीने पर विभिन्न समुदाय बनते हैं एवं उनके बीच स्पर्धा, द्वेष, शंका, संघर्ष दिखता हैं, जो सर्वमानव को अस्वीकृत है। इस प्रकार मानवीय परंपरा के लिए सह–अस्तित्व का ज्ञान, अध्यापन, अध्ययन एवं प्रमाण अनिवार्य है।

अभ्यास व अध्ययन

1. मानवीय परंपरा किसे कहते हैं?
2. सभ्यता, संस्कृति, विधि, व्यवस्था में क्या अंतरासंबंध है?

पाठ–16

मानवीय व्यवस्था

परिवार व्यवस्था, मानवीय व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई है। इस व्यवस्था में न्याय सुलभता, उत्पादन सुलभता और विनिमय सुलभता होती है। परिवार के सभी सदस्य आपस में सम्बंध को पहचानते हैं, परस्पर मूल्यों का निर्वाह करते हैं, मूल्यांकन करते हैं एवं उभय तृप्ति का अनुभव करते हैं। इसके साथ समृद्धि का अनुभव करने के लिए परिवार किसी उत्पादन–कार्य को करता है। आवश्यक वस्तुओं को रखता है, शेष उत्पादन को विनिमय करता है और अपने लिए आवश्यक अन्य वस्तुओं को प्राप्त करता है।

परिवार से बड़ी व्यवस्था परिवार समूह व्यवस्था कहलाती है। यह कुछ परिवारों का समूह होता है। प्रत्येक परिवार का एक सदस्य परिवार समूह व्यवस्था का सदस्य होता है। इस प्रकार परिवार समूह में जितने भी परिवार होते हैं वे सभी एक–एक प्रतिनिधि परिवार समूह के लिए चुनते हैं। ये प्रतिनिधि अपने परिवार में ही रहते हैं, परिवार व्यवस्था में भागीदारी करते हैं। अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ परिवार से ही प्राप्त करते हैं। अपने समय का कुछ भाग परिवार समूह व्यवस्था के लिए अर्पित करते हैं। यह दायित्व वे उपकार विधि से पूरा करते हैं। इसके बदले किसी प्रकार का प्रतिफल या धन नहीं लेतें। ये सभी प्रतिनिधि मिलकर 'परिवार समूह सभा' कहलाते हैं।

प्रत्येक परिवार में व्यवस्था सम्बंधी जो भी श्रेष्ठ कार्य, व्यवहार एवं आचरण होते हैं, उन्हें 'परिवार समूह सभा' में चर्चा करते हैं; जिससे अन्य सदस्य प्रेरणा लेकर अपने परिवार में पहुँचाते हैं। इसी प्रकार किसी परिवार में कोई कठिनाई होने पर 'परिवार समूह सभा' में चर्चा कर मार्गदर्शन पाते हैं।

प्रत्येक परिवार की आवश्यकता क्या–क्या है ? एवं कितनी मात्रा में वस्तुएँ चाहिए यह प्रत्येक परिवार प्रतिनिधि को विदित रहता है। इसी प्रकार कौन–कौन से प्रशिक्षण परिवार को चाहिए ? इस तरह उत्पादन–विनिमय सम्बंधी सभी सूचनाएँ सभी परिवार प्रतिनिधि को

विदित रहती हैं। इसी आधार पर परिवार समूह में कौन–कौन से उत्पादन या सेवा–कार्य हो रहे हैं, हो सकते हैं, इसकी भी सूचना रहती है। परिवार समूह व्यवस्था कुछ परिवारों की व्यवस्था होती है जो मुख्यतः न्याय–सुरक्षा कार्यक्रम का दायित्व निर्वाह करती है। 'परिवार सभा' परिवार के सभी समझदार व्यक्तियों की सभा होती है। 'परिवार सभा' में परिवार के समझदार व्यक्तियों के प्रतिनिधि होते हैं।

एक परिवार में सदस्य सीमित होते हैं। सभी सदस्यों से न्याय पूर्वक निर्वाह करने के लिए सामान्यतः दस व्यक्ति पर्याप्त होते हैं। अधिक व्यक्ति होने पर निर्वाह ठीक से नहीं हो पाता। अतः एक परिवार लगभग 10 व्यक्तियों का समूह होता है। परिवार समूह भी लगभग 10 परिवारों का समूह होता है। इन दस परिवारों के बीच का रास्ता, इनके बीच की साझा भूमि, जलाशय, वन जैसे प्राकृतिक एश्वर्य की सुरक्षा व सदुपयोग परिवार समूह सभा का दायित्व होता है। परिवार समूह से बड़ी व्यवस्था ग्राम व्यवस्था या टोला/मुहल्ला व्यवस्था कहलाती है। टोला/मुहल्ला किसी बड़े नगर के एक भाग को कहते हैं। इस प्रकार ग्राम/मुहल्ला भी दस 'परिवार समूह' की सम्मिलित व्यवस्था का नाम है। इसे दूसरी भाषा में 100 परिवारों की व्यवस्था या एक हज़ार व्यक्तियों की व्यवस्था भी कहते हैं।

1000 व्यक्तियों में सभी आयु के व्यक्ति आ जाते हैं। सामान्यतः मनुष्य अधिकतम 100 वर्ष जीते हैं। 80 से 100 वर्ष के आयु वर्ग में लोगों की संख्या कम होती है। लगभग 100 व्यक्तियों की संख्या में सभी आयु के लोग कुछ संख्या में मिल जाते हैं। अतः इतनी संख्या में सभी व्यक्तियों के लिए कार्यक्रम होना संभव है। मानवीय व्यवस्था के पाँचों आयाम यहाँ प्रमाणित होना भी संभव है। इसलिए ग्राम व्यवस्था या मुहल्ला व्यवस्था, सार्वभौम व्यवस्था का छोटा रूप होता है।

इस स्तर पर मानवीय व्यवस्था के स्रोत शिक्षा–संस्कार एवं

स्वास्थ्य–संयम पूर्णतः क्रियाशील एवं प्रमाणित हो सकते हैं। इस स्तर पर, प्रत्येक 'परिवार समूह' से एक–एक प्रतिनिधि व्यवस्था का दायित्व निर्वाह के लिए चुने जाते हैं। ये सभी सदस्य उपकार विधि से दायित्व निर्वाह करते हैं। उनमे से कोई भी सदस्य कोई प्रतिफल या मानदेय या धन नहीं लेता। अपनी तृप्ति के लिए ही इस दायित्व को स्वीकरता है एवं निर्वाह करता है। इन सभी सदस्यों को संयुक्त रूप में ग्राम सभा या मुहल्ला सभा' कहा जाता है। इसमें भी दस सदस्य होते हैं।

इसमें शामिल सभी सदस्य, पूर्व में 'परिवार समूह' सभा में दायित्व निर्वाह कर चुके होते हैं। अतः अपने 'परिवार समूह' के बारे में सारी सूचनाओं से सम्पन्न रहते हैं। इस प्रकार 'ग्राम सभा' या 'मुहल्ला सभा' पूरे ग्राम/मुहल्ले के सभी योग्यता, आवश्यकता से परिचित होते हैं। ये सब मिलकर ग्राम/मुहल्ला व्यवस्था के लिए योजना बनाने में सक्षम होते हैं।

यह सभा, ग्राम/मुहल्ला के योग्य व्यक्तियों को लेकर 5 समितियों का गठन करती है। ये सभी व्यक्ति उपकार विधि से कार्य करते हैं अर्थात इन समितियों में भागीदारी करने के बदले में धन या कोई प्रतिफल नहीं लेते। ये समितियाँ निम्न है :

1. शिक्षा–संस्कार समिति
2. स्वास्थ्य–संयम समिति
3. न्याय–सुरक्षा समिति
4. उत्पादन–कार्य समिति
5. विनिमय–कोष समिति

1. **शिक्षा–संस्कार समिति** : शिक्षा संस्कार समिति, ग्राम/मुहल्ले के सभी लोगों के लिए शिक्षा का प्रबंध करती है। शिक्षा देने के लिए पारंगत एवं प्रमाणित लोगों को चुनकर इस उपकार–कार्य में भागीदारी करने का प्रबंध करती है। सभी शिक्षक उपकार विधि से शिक्षा–संस्कार में भागीदारी करते हैं। स्वास्थ्य–संयम, न्याय–सुरक्षा, उत्पादन, विनिमय भी शिक्षा के भाग हैं, अतः इन समितियों से तालमेल के द्वारा शिक्षण एवं प्रशिक्षण की योजना बनाने का दायित्व भी शिक्षा–संस्कार समिति का ही है।

2. **स्वास्थ्य–संयम समिति** : यह समिति ग्राम/मुहल्ले में स्वास्थ्य–संरक्षण का दायित्व निर्वाह करती है। लोग स्वस्थ रहें, इसलिए आवश्यक प्रशिक्षण का कार्य शिक्षा–संस्कार समिति से मिलकर तय करती है। स्वच्छता, जल की शुद्धता एवं उपलब्धता, अपशिष्ट वस्तुओं का प्रबंधन जैसे कार्य करती है। साथ ही, स्वास्थ्य–संयम के लिए जागृत एवं प्रमाणित व्यक्ति तैयार करती है। रोगी को उपचार के लिए चिकित्सालय, योग्य चिकित्सक एवं सेवा कर्मीयों की पहचान कर उन्हें अवसर प्रदान करती है।

3. **न्याय–सुरक्षा समिति** : ग्राम/मुहल्ले के सभी साझा सम्पत्ति जैसे सड़क, सभास्थल, विद्यालय, चिकित्सालय, जलाशय, जल प्रबंधन, वनभूमि, चारागाह की सुरक्षा का दायित्व निर्वाह करती है। न्याय में लोगो की निष्ठा एवं जागृति पैदा करने के लिए समय–समय पर उत्सव का आयोजन करती है।

4. **उत्पादन–कार्य समिति** : ग्राम/मुहल्ले में संभव हो सकने वाले उत्पादन की पहचान करना, उन्हें करने योग्य परिवारों की पहचान करना, प्रशिक्षण देना – यह उत्पादन समिति का दायित्व होता है। यह समिति ध्यान रखती है कि सभी युवा व्यक्ति उत्पादन–कार्य से जुड़े रहें एवं बेरोज़गार न रहें। उत्पादन में गुणवत्ता को बनाए रखने के लिए समय–समय पर प्रशिक्षण का दायित्व भी इसी समिति का है। कुल कितना उत्पादन आवश्यक है, इसका अनुमान करना एवं योजना बनाना इसी समिति का दायित्व है।

5. **विनिमय–कोष समिति** : ग्राम/मुहल्ला व्यवस्था में एक विनिमय–कोष का गठन किया जाता है। यह समिति न्याय–सुरक्षा, उत्पादन–कार्य एवं शिक्षा–संस्कार समिति से मिलकर ग्राम/मुहल्ले में होने वाले सभी उत्पादनों का श्रम मूल्य निकालती है। इस श्रम मूल्य के आधार पर ग्राम/मुहल्ले स्तर पर लाभ–हानि मुक्त विनिमय प्रणाली को सुनिश्चित करती है। प्रत्येक परिवार अपनी आवश्यकता की वस्तु को अपने पास रखते हैं, यह कोष कहलाता है। अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओं को ग्राम/मुहल्ला के विनिमय–कोष में दे कर अन्य आवश्यक वस्तु लेते हैं। इस प्रकार ग्राम/मुहल्ला में भी एक कोष बना रहता है। यह कोष आवश्यकतानुसार उपयोग में आता है।

इस प्रकार ग्राम/मुहल्ले के अनेक लोग कुछ निश्चित समय के लिए ग्राम–सभा एवं पाँचों समितियों में भागीदारी करते हैं। यह भागीदारी उपकार–विधि से होती है। उपकार–

विधि से मानवीय व्यवस्था साकार होती है। प्रतिफल–विधि से या मानदेय–विधि से व्यवस्था साकार नहीं होती है।

अभ्यास व अध्ययन

1. परिवार व्यवस्था में कौन–कौन से काम होते हैं?
2. परिवार समूह सभा में क्या–क्या होता है?
3. ग्राम/मुहल्ला व्यवस्था को सार्वभौम व्यवस्था का छोटा रूप क्यों कहते हैं?
4. शिक्षा–संस्कार समिति क्या–क्या करती है?
5. स्वास्थ्य–संयम समिति कौन–कौन से कार्य करती है?
6. न्याय–सुरक्षा समिति क्या–क्या करती है?
7. उत्पादन–कार्य समिति क्या–क्या करती है?
8. विनिमय–कोष समिति क्या–क्या करती हैं?

पाठ–17

शिक्षा–संस्कार

प्रकृति चार अवस्थाओं का सह–अस्तित्व है। ज्ञानावस्था में स्थित मानव का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि मानव का स्वभाव – धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करुणा है और मानव का धर्म सुख है। अन्य अवस्थाओं का धर्म – मानव में समाया हुआ है। जैसे कि मानव में सुख से जीने की आशा है, मानव के शरीर में पुष्टि और अस्तित्व है। मानव के रूप में हम अन्य अवस्थाओं का सदुपयोग करते हैं, उनको समृद्ध करते हैं और अपने सुख धर्म को जीने में प्रमाणित करते हैं। इस प्रकार ज्ञानावस्था प्रकृति में सबसे विकसित अवस्था है।

मानव परंपरा में रहते हुए मानव संस्कार अनुषंगी हैं। हर मानव समझ के आधार पर जीता है अर्थात जैसे समझ या अवधारणा होगी उसके अनुसार ही आचरण होगा। बाल्य अवस्था में शिशु अपने माता–पिता के देखा देखी अनुसरण करते हैं, जैसे जैसे बड़े होते हैं अपने गुरुजन की बात को भी स्वीकारने लगते हैं और उनका अनुसरण कर उनके अनुसार जीने लगते हैं। माता–पिता, भाई–बहन, दादा–दादी, नाना–नानी अर्थात परिवार सभी शिशु के लिए शिक्षा का पहला स्रोत होता है। जैसे जैसे जीने का विस्तार बढ़ने लगता है एक बड़ा वातावरण अवधारणा और समझ का स्रोत होने लगता है।

मानव स्वयं को, अपने चारों तरफ हर वास्तविकता को, उसके साथ संबंध को लगातार किसी न किसी मान्यता के अनुसार स्वीकारे रहते हैं। इसको और स्पष्टता से देखने के लिए जीव–जानवर को देखते हैं। जीव अवस्था वंशानुषंगी व्यवस्था हैं अर्थात अपने शरीर की व्यवस्था के आधार पर जीते हैं। उनका आचरण अपने शरीर को बनाये रखने के अर्थ में होता है। जीव–जानवर के लिए यह समझना आवश्यक नहीं है कि वे क्या हैं, यह संसार क्या है, कैसा है, उनका जीवन सफल है कि नहीं, वह कैसे बेहतर हो सकता है इत्यादि। जीव–जानवर एक निश्चित तरीके से जीते हैं परन्तु मानव हज़ारों सालों से पृथ्वी पर और अच्छे से जीने का प्रयास कर रहे हैं।

वनस्पति संसार – बीज–अनुषंगी हैं अर्थात जैसा बीज होगा वैसा पेड़ होता है और उसी के अनुसार उस पेड़ का आचरण अर्थात सारा क्रिया कलाप होता है। आम का पेड़ एक निश्चित

समय पर फलता है, उसकी लम्बाई–चौड़ाई एक सीमा में निर्धारित है, उसमें फलने वाले आम के फल भी आपस में एक जैसे होते हैं और उस फल के बीज से पैदा हुआ दूसरा पेड़ भी पहले पेड़ के जैसा ही होता है।

पदार्थ – परिणाम–अनुषंगी है अर्थात जैसा परिणाम उसी प्रकार उसका आचरण होगा। पदार्थ निरंतर भौतिक और रासायनिक क्रिया में रत रहता है – जैसे पृथ्वी की सतह पर मिट्टी सूर्य की ऊष्मा से पूरे दिन गर्म होती है और उसमें नमी की मात्रा कम होती है, हवा के वेग से मिट्टी एक जगह से दूसरी जगह खिसकती रहती है और जल के साथ घुलकर अपने गुणों को बदलती रहती है। भौतिक क्रिया समुद्र में तपता हुआ पानी, हवा में उठते हुए बादल और बरसते हुए पानी के रूप में निरंतर होती रहती है। इस प्रकार हर पदार्थ का परिणाम – भौतिक और रासायनिक क्रिया में रत रहने से बदलता रहता है और किसी भी पल जो परिणाम रहता है उसके आधार पर ही आचरण होता है। लोहा, पत्थर, तेल इत्यादि पदार्थ हैं जोकि किसी भौतिक, रासायनिक क्रिया का परिणाम है और इसके आधार पर ही लोहा – एक निश्चित आचरण करता है।

मानव अन्य जीव–जानवर के भांति अपने शरीर वंश या अपने माता–पिता के वंश जैसे नहीं अपितु अपने समझ के आधार पर जीते हैं। इसलिए शिक्षा और संस्कार सभी मानव के लिए महत्वपूर्ण है। सही और सार्थक शिक्षा और संस्कार को प्रेरित करने की व्यवस्था होने से मानव सुखी होते हैं।

सही और सार्थक शिक्षा कैसी होगी और उसको पाकर हममें कैसे गुण होंगे इस बात को समझना महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके आधार पर ही मानव अपनी शिक्षा–व्यवस्था का रूप निर्धारित करते हैं। आईये इनको समझते हैं :

1. हम सभी मानव संबंध में जीना चाहते हैं। अपने परिवार जनों और समाज में स्नेह और प्रेम पूर्वक जीना सभी मानव के लिए अति आवश्यक है। यह योग्यता शिक्षा–संस्कार के द्वारा ही पाते हैं और हर शिक्षा प्रणाली का यह महत्वपूर्ण लक्ष्य है।

2. शिक्षा–संस्कार से मानव में व्यवसाय द्वारा अपने परिवार की आवश्यकता को पूरा करने की योग्यता आती है। उत्पादन या निर्माण के कार्य में निपुण होते हैं और स्वावलंबन के साथ इसको पूरा करने की योग्यता उपार्जित करते हैं। शिक्षा–संस्कार व्यवस्था स्वावलंबन द्वारा हमें विवशता से मुक्त करती है।

3. वास्तविकताओं को समझ पाने से और उसमें जीने की क्षमता आने से मानव में विश्वास आता है। यह स्पष्टता होती है कि क्या करना है, कैसे करना है, क्यों करना है और उसको करने लगते हैं। इस प्रकार स्वयं में विश्वास और दूसरे को आश्वस्त करने की योग्यता शिक्षा–संस्कार व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है।

4. शिक्षा–संस्कार से मानव स्वयं का और दूसरों का सही मूल्यॉंकन करने की योग्यता से संपन्न होने लगते हैं। समझने का लक्ष्य जीने के हर आयाम में समाधान की स्थिति है। सभी मानव का यह लक्ष्य है। जो श्रेष्ठ हैं, जो अच्छा जीने का प्रमाण देते हैं, उनका स्वागत करते हैं, उनकी श्रेष्ठता को स्वीकारते हैं। यह शिक्षा–संस्कार से होता है।

मानव परंपरा में ज्ञान सहजता से हर मानव को उपलब्ध हो ऐसा सभी मानव चाहते हैं और यह समाज में शिक्षा–संस्कार व्यवस्था से पूरी होती है। शिक्षा–संस्कार व्यवस्था के दो आयाम हैं – शिक्षा और संस्कार। अस्तित्व ज्ञान (ज्ञान), मानव लक्ष्य (विवेक) और मानव लक्ष्य को पाने का तरीका (विज्ञान) – यह शिक्षा का अंग है। मानवीय वातावरण और व्यवस्था जो इस ज्ञान, विवेक और विज्ञान की स्वीकृति के साथ जीने में सहयोग करें – यह संस्कार है। इस प्रकार शिक्षा–संस्कार मिलकर मानवीय व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण आयाम है। इन दोनों आयामों के होने से ही मानव जीवन के लक्ष्य और निरंतर सुखी रहने की योग्यता को पाते हैं।

विद्यार्थी के रूप में सभी ज्ञान, विवेक और विज्ञान के प्रति जिज्ञासा रखते हैं और उसको समझने की निष्ठा रखने से शिक्षा–संस्कार की व्यवस्था सफल होती है।

अभ्यास व अध्ययन

1. "मानव संस्कार–अनुषंगी है" – इसे स्पष्ट कीजिए।
2. शिक्षा–संस्कार के प्रमुख लक्ष्य कौन से हैं?
3. समझकर सीखने और करने वाली क्रियाओं के कुछ उदाहरण बताइए। इनमें से कौन–सी क्रियाएँ अभी हम कर पा रहे हैं?
4. शिक्षा क्या है? संस्कार क्या है?

पाठ–18

शरीर–व्यवस्था

शरीर एक साधन है। मानव, शरीर से अपनी समझ व्यक्त करता है। मानव–शरीर जैसा विकसित साधन अपने में एक व्यवस्था है, जो एक निश्चित विधि से चलता है। चौबीसों घंटे मानव शरीर में हृदय धड़कता है, हृदय द्वारा रक्तसंचार होता है, शरीर का ताप 37 डिग्री सेल्सियस बना रहता है। यह प्रक्रियाऐं निश्चित हैं और व्यवस्थित ढंग से शरीर में लगातार चलती रहती हैं। इन प्रक्रियाओं को चलाने वाला मानव का शरीर कहलाता है। शरीर की कुछ क्रियाऐं 'अपनेआप' चलती हैं। हृदय धड़कना, पलके झपकना, पाचन–निष्काशन होना, सांस लेना – यह क्रियाऐं शरीर में स्वयं–स्फूर्त विधि से संचालित हैं। शरीर पर ध्यान न होने पर भी यह क्रियाऐं शरीर में लगातार चलती रहती हैं। मानव निर्णयपूर्वक अपनी सांस को रोक सकता है। परंतु कुछ देर बाद वह अपनी सांस को रोक नहीं पाता क्यों कि मानव जीना चाहता ही है। मानव के जीवन की इस मूल चाहत के कारण उसके शरीर में श्वसन–प्रश्वसन जैसी क्रियाऐं निरंतर चलती रहती हैं।

मानव की सुखपूर्वक, संबंध सहित जीने की चाहत से मानव कुछ क्रियाएँ 'जानबूझकर' अपने शरीर द्वारा करता है।जैसे शरीर को पोषण देने के लिए मानव (जीवन) भोजन करने का निर्णय लेता है और शरीर (हाथ–मुँह) द्वारा भोजन करता है या दूसरों के साथ विश्वासपूर्वक जीने के लिए अपने शरीर द्वारा व्यक्त होता है, व्यवहार करता है।

इन 'अपनेआप' और 'जानबूझकर' होने वाली क्रियाओं में मेधस, जीवन और शरीर के बीच का माध्यम है, जिसके सहयोग से सूचनाओं का आदान–प्रदान होता है। 'अपने आप' होने वाली क्रियाओं में मुख्य रूप से क्रियावाही तंत्र की भागीदारी है, जिससे इन क्रियाओं का नियंत्रण होता है। इन क्रियाओं में जीवन की भागीदारी न्यूनतम है। 'जानबूझकर' होने वाली क्रियाओं में जीवन की भागीदारी प्रधान है। ज्ञानवाही तंत्र द्वारा शरीर की ज्ञानेन्द्रियों का जीवन के साथ सूचनाओं का आदान–प्रदान होता है।

मानव–शरीर स्वयं में व्यवस्था है। मानव–शरीर वातावरण से प्रभावित होता है और वातावरण

को प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए ज़्यादा गर्म होने पर शरीर से पसीना निकलता है। शरीर की व्यवस्था को बनाऐ रखने के लिए पसीना त्वचा से निकलता है और शरीर को वातावरण की तुलना में ठंडा रखता है। इसी तरह बंद कमरे में ज़्यादा लोगों के बैठने से घुटन होती है। ऐसा क्यों होता हैं? मानव के शरीर का निश्चित ताप है। इसकी ऊष्मा शरीर से कमरे में फैलती है। ज़्यादा लोग होने से कमरे का ताप भी बढ़ जाता है। इससे सांस लेने में दिक्कत आती है। इस कारण से लोग बंद कमरे की खिड़कियाँ खोल देते हैं ताकि अंदर हवा आने पर कमरे का ताप कम हो जाए जिससे लोगों को राहत मिलती है।

शरीर की व्यवस्था और शरीर की बड़ी व्यवस्था में भागीदारी बनी रहे – इसका आधार मानव की समझ है। समझदार होने से जीवन शरीर को व्यवस्थापूर्वक संचालित करता है और इसे स्वस्थ बनाए रखता है। समझदार होने से मानव अपने से बड़ी व्यवस्था में भागीदारी समझता है और उसका निर्वाह करता है। निर्वाह होने पर शरीर स्वस्थ बना रहता है। जैसे शरीर से प्रकृति पर श्रम करने से मानव की मांस–पेशियाँ पुष्ट होती हैं और उनकी व्यवस्था (स्वस्थता) बनी रहती है। इसी तरह मानव समझ कर शरीर का सही आहार से पोषण करता है। मानव–शरीर के अवयव को रक्त से पोषण मिलता है। इस रक्त को बनाने के लिए, पुष्ट करने के लिए मानव भोजन करता है। रक्त पोशित होने पर यह रक्त पूरे शरीर में घूमता है और स्वयं में व्यवस्था होने के कारण हर अवयव को उसकी आवश्यकता अनुसार ही पोशित करता है। जैसे मेधस को सबसे अधिक रक्त की आपूर्ति चाहिए क्योंकि मेधस लगातार संकेतों से शरीर को संचालित करता है। उपरोक्तनुसार मेधस क्रियावाही और ज्ञानवाही तंत्र से शरीर और जीवन के बीच संकेतों (सूचनाओं) का आदान–प्रदान करता है।

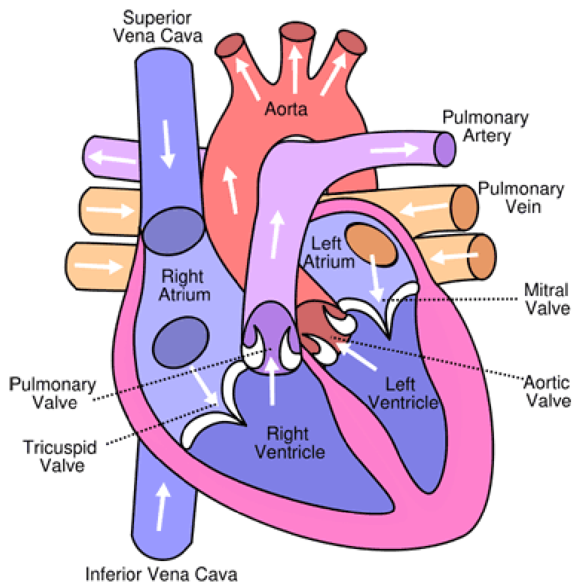

अधिक ऊर्जा के लिए अधिक रक्त अनिवार्य है। इसलिए बाकि अवयव की तुलना में मेधस, हृदय (और कलेजे) में अधिक रक्त की आवश्यकता होती है। भारी भोजन करने पर पाचन तंत्र को अधिक ऊर्जा की आवश्यकता हाती है ताकि पाचन ठीक से हो पाए। इसलिए फेफड़े और हृदय और तेज़ी से

कार्य करते हैं ताकि रक्तसंचार द्वारा अधिक रक्त पेट और आँतों तक पहुँच पाए। इसी तरह रक्ततंत्र अपने में एक व्यवस्था है क्योंकि वह शरीर की व्यवस्था के नियम अनुसार कार्य करते हुए शरीर की व्यवस्था बनाए रखता है। रक्त तंत्र की तरह शरीर के सभी तंत्र (पाचन, श्वसन–प्रवसन, अस्थि, उत्सर्जन इत्यादि) अपने में व्यवस्था है क्योंकि शरीर स्वयं एक व्यवस्था है। इसी तरह शरीर के सभी अवयव भी एक व्यवस्था हैं जो आपस में व्यवस्था में (सह–अस्तित्वपूर्वक) कार्य करते हैं और शरीर जैसी बड़ी व्यवस्था में भागीदार होते हैं।

रक्त संचार हृदय द्वारा होता है जिससे शरीर को बोलने, चलने, फिरने, कार्य करने की ऊर्जा मिलती है। यह ऊर्जा रक्त के शुद्ध और पोशित होने पर मिलती है। रक्त की शुद्धता फेफड़ों से होती है और रक्त का पोषण भोजन के पचने के पश्चात जो रस बनता है उससे मिलता है। रक्त पोशित और शुद्ध होकर हृदय में जाता है। हृदय से धमनियों द्वारा पूरे शरीर में वितरित होता है। शरीर के हर अवयव और कोशिका को पोशित करते हुए और उनमें गंदगी उठाते हुए रक्त हृदय में लौटता है। यह अशुद्ध रक्त शुद्धता के लिए हृदय से फेफड़ों में जाता है। शुद्ध होने के पश्चात रक्त फिर से हृदय में रक्तसंचार के लिए आता है। इस प्रक्रिया से यह स्पष्ट होता है कि हृदय में प्रधान रूप से दो भाग हैं – एक, शुद्ध रक्त के लिए और एक, अशुद्ध रक्त के लिए। साथ ही, यह भी समझ में आता है कि हर भाग के दो हिस्से हैं – एक, जिसमें रक्त आता है और जमा होता है ओर दूसरा जिससे रक्त निकलता है। हृदय में यह क्रियाऐं हर समय स्वयं–स्फूर्त विधि से चलती रहती है। जीवन के जीने की आशा और शरीर द्वारा व्यक्त होने के लक्ष्य से शरीर स्वयं–स्फूर्त चलता रहता है।

शुद्ध रक्त के लिए शुद्ध हवा की आवश्यकता है। यह हवा शरीर में कहाँ से आती है? यह हवा शुद्ध कैसे होती है और रक्त में कैसे मिलती है? मानव नाक से सांस लेते समय वातावरण में जो हवा है उसको अंदर लेता है। इस हवा में जो जीवाणु होते हैं वह नाक और श्वासनली के बालों और चिकनाई में फंस जाते हैं। नाक साफ करने पर यह मैल मानव–शरीर से बाहर निकल जाता है। इसलिए शरीर की स्वच्छता बनाए रखने के लिए मानव सुबह हाथ, आँख, मुँह की मैल को धोने के साथ–साथ, नाक भी साफ करता है। इस तरह फेफड़ों को वातावरण में फैले जीवाणु से शरीर बचाए रखता है। साथ ही, वातावरण में स्वच्छ हवा मिलने से मानव आसानी से सांस अंदर–बाहर ले सकता है और फेफड़ों पर ज़्यादा ज़ोर नहीं पड़ता है। हवा जितनी प्रदूशित होती है उतना ही ज़्यादा फेफड़ों को फैलना और सिकुड़ना होता है ताकि शरीर की व्यवस्था बनी रहे।

हवा में ज़्यादा अशुद्धता से नाक में ज़्यादा मैल जमा होती है। खुले और हरे–भरे इलाके से भीड़ और बड़ी इमारतों के इलाके की ओर आते समय मानव यह देख पाता है कि एक दम से चहरे पर मैल जमने लगती है, नाक भरी हुई सी लगती है और सांस लेने में शुरू–शुरू में धुटन सी महसूस होती है। यह प्रदूशित हवा का संकेत है। ऐसे वातावरण में शरीर की सफाई और शरीर के स्वास्थ्य को बनाए रखने में ज़्यादा ऊर्जा लगती है। हवा प्रदूशित हो या ठंडी या गरम हो, मानव का शरीर (नाक, श्वासनली, इत्यादि द्वारा) अधिक ऊर्जा का उपयोग करके उसे अपने अनुकूल बनाता है और अपनी व्यवस्था को बनाए रखता है।

फेफड़ों में हवा नाक और वासनली से होते हुए पहुँचती है और फेफड़ों में श्वसन से हवा के पोषक तत्व रक्त में मिलते हैं और रक्त से अनावश्यक भाग प्रश्वसन द्वारा बाहर निकलते हैं। ये भाग पेड़–पौधों और धरती की सतह पर अन्य पदार्थों के लिए आवश्यक तत्व है परंतु शरीर के लिए यही चीज़ प्रतिकूल है। शरीर की व्यवस्था इस प्रकार बनी है कि उससे यह हानिकारक पदार्थ सहजता से निकल जाए। यह प्रक्रिया एक यांत्रिक प्रक्रिया है जिसमें हवा अधिक दाब से कम दाब की ओर जाती है।

इस सिद्धांत से फेफड़ों से पोषक तत्व रक्त में मिल जाते हैं और अनावश्यक भाग रक्त से फेफड़ों में जाते हैं। अनावश्यक तत्व फेफड़ों के सिकुड़ने से नाक से सांस छोड़ते समय बाहर निकल जाते हैं। पोशित रक्त हृदय में जाकर पूरे शरीर के प्रत्येक अंग तक पहुँचता है। हृदय की मांस–पेशियाँ जितनी मज़बूत हैं उतने अच्छे से शरीर में रक्तसंचार होता है। इसलिए जैसे–जैसे शरीर की और उसके अवयवों की व्यवस्था मानव समझता है वैसे–वैसे वह श्रम और व्यायाम का महत्व समझता है। महत्व समझ में आने से मानव का श्रम करना एक स्वाभाविक क्रिया है।

रक्त को शुद्ध करने की प्रक्रिया फेफड़ों में होती है और साथ ही गुर्दों में भी होती है। मानव के गुर्दे एक बहुत ही सूक्ष्म और बारीक छन्नी है जिसमें रक्त में कोशिकाओं और अवयवों से जमा हुई गंदगी छन जाती है। शुद्ध रक्त फिर हृदय से रक्तसंचार होता है और गंदगी मूत्र द्वारा समय–समय पर शरीर से बाहर निकल जाती है। यह प्रक्रियाऐं भी शरीर में स्वयं–स्फूर्त विधि से चलती रहती है। शरीर में ऐसी व्यवस्था है कि हर क्षण किस अवयव को क्या क्रिया करनी है, यह तय है। इस प्रकार से शरीर के हर तंत्र, हर अवयव, हर कोशिका व्यवस्था में है और इसी कारण से आपस में भी व्यवस्थापूर्वक कार्य करते हैं। इसके मूल में यह है कि शरीर स्वयं एक

व्यवस्था है जो मानव की समझ को प्रमाणित करने के लिए एक आवश्यक साधन है।

अध्याय व अयययन

1. हमारा शरीर वातावरण से कैसे प्रभावित होता है? तथा वातावरण को कैसे प्रभावित करता है?
2. 'अपने आप' होने वाली और 'जानबूझकर' करने वाली क्रियाओं में भेद बताइए।
3. हमारा रक्त संचार तंत्र किस तरह काम करता है?
4. हमारे शरीर में फेफड़ें किस तरह से कार्य करते हैं?
5. गुर्दों में क्या होता है?

गतिविधि

(शिक्षक के लिए) हर बच्चे के दिन चर्या में श्रम और व्यायाम कितना हो पाता है, इस पर उनके साथ चर्चा करें। श्रम, व्यायाम का महत्त्व क्या है, इस पर प्रकाश डालें।

पाठ–19

आहार और औषधि

मानव का शरीर एक भौतिक–रासायनिक वस्तु है। इसको बनाये रखने के लिए मानव आहार करता है। आहार शरीर के पोषण के लिए अनिवार्य है। मानव का आहार कैसा हो या क्या हो इसकी समझ जागृत जीवन में होती है। मानव समझकर अपने शरीर को सही आहार से पोशित करता है। मानव शरीर की बनावट और व्यवस्था समझता है तो उसको बनाये रखने के लिए कार्य करता है। मानव शरीर के अंग–प्रत्यंग का शरीर की व्यवस्था में भागीदारी नहीं समझता है तो अपनी ना समझी में अनिश्चित आहार करता है एवं अनिश्चित समय पर खाता–पीता है।

समझकर आहार सुनिश्चित करने से ही मानव का शरीर स्वस्थ रहता है। मानव समझदार होते हैं तो शरीर के लिए क्या आहार और कब आहार अनुकूल होता है, यह स्पष्ट होता है। आहार एक ऐसी वस्तु है जो शरीर में सहजता से पच जाती है। आहार के पचने पर मानव के शरीर में रस बनता है जो शरीर के लिए आवश्यक तत्व होते हैं। यह रस रक्त में मिलकर मानव शरीर को पोशित करता है। भोजन को पचने में समय लगता है इसलिए मानव को कुछ अंतराल में भोजन की आवश्यकता होती है। भूख लगने पर ही मानव भोजन करते हैं। बिना भूख के भोजन करने से पाचन प्रभावित होता है और इस कारण मानव की आँतों में मैल जमा होती है। शारीरिक श्रम से मानव को पर्याप्त भूख लगती है। व्यायाम से मानव के शरीर की माँस–पेशियाँ पुष्ट होती हैं जिससे शरीर के तंत्र भी मज़बूत होते हैं। पाचन और उत्सर्जन तंत्र के मज़बूत रहने से मानव के शरीर की सफाई व्यवस्थित होती है। इसलिए स्वस्थ शरीर को आहार, श्रम, व्यायाम और आराम; इन सभी की आवश्यकता होती है।

दिन के समय मानव के शरीर की पाचन क्रिया तीव्रता से होती है। रात्रि में पाचन धीमे हो जाता है। इसलिए रात्रि में मानव भोजन हल्का करते हैं। रात्रि भोजन के पश्चात टहलने से पाचन में सहयोग होता है। भोजन रात्रि 8 बजे से पहले करने से मानव शरीर को उसको पचाने के लिए, सोने से पहले, पर्याप्त समय मिल जाता है। रात्रि 8 बजे के बाद शरीर की पाचन शक्ति बहुत

धीमी हो जाती है और भोजन ठीक से पचता नहीं है। इस कारण से शरीर में मोटापा पैदा होता है और शरीर में सुस्ती आती है।

इस तरह शरीर पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है। सुबह से सायंकाल तक शरीर के तंत्रों की गति में बदलाव आता है। सोते समय शरीर के सभी तंत्र धीमे हो जाते हैं। इसलिए रात्रि भोजन और सोने के बीच हम कम से कम दो घंटे का अंतराल रखते हैं। इस प्रकार ग्रीष्म और शीत ऋतु में भी शरीर की व्यवस्था में अंतर होता है। सर्दियों में शरीर में पाचन तीव्रता से होता है ताकि मानव के शरीर को गर्म रखने के लिए अधिक ऊर्जा मिले। इस कारण से मानव को सर्दियों में, गर्मियों की तुलना में, ज्यादा भूख लगती है। तभी शीत ऋतु में घी, मक्खन जैसी भारी चीज़ें भी खाई जाती हैं क्योंकि वह शरीर में आसानी से पच जाती हैं और शरीर को गर्म रखने के लिए और कार्य करने के लिए पर्याप्त ऊर्जा भी देती है। ठण्ड में मानव अधिक श्रम से भी शरीर को गर्म और स्वस्थ रखते हैं। श्रम या व्यायाम से शरीर में रक्तसंचार बड़ता है, जिससे शरीर के हर अंग पोशित रहते हैं और उनका ताप सामान्य बना रहता है। शरीर के ताप को सामान्य बनाये रखने के लिए और वातावरण में ताप के परिवर्तन से शरीर पर प्रभाव सीमित करने के लिए श्रम और व्यायाम आवश्यक है।

शीत ऋतु में मानव शरीर को गर्म रखने वाले आहार का सेवन करते हैं और ग्रीष्म ऋतु में उसे ठंडा रखने वाले आहार का सेवन करते हैं। सर्दियों में पालक, गौभी, गाजर जैसी सब्ज़ियों को मानव पकाते हैं और अनार, आड़ू, अंगूर जैसे फल खाते हैं। सर्दियों में भुना हुआ लहसुन खाने से मानव का शरीर गर्म रहता है। गर्मियों में खीरा, प्याज़ जैसी चीज़ों को कच्चा खाते हैं और भिंडी, तोरी, टिंडा जैसी सब्जियाँ पका कर खाते हैं। गर्मियों में अधिकतर हरी सब्जियाँ बेलों पर उगती हैं। गर्मियों में दही से बनी छाछ और लस्सी मानव के शरीर को ठंडक पहुँचाती है। अधिक गर्मी लगने से कुटी हुई सौंफ को रात–भर भिगोकर उसको अगले दिन खाने से शरीर में ठंडक बनी रहती है। गर्मियों में हल्की दालें शरीर के लिए अनुकूल होती हैं जैसे मूँग और मसूर। सर्दियों में भारी दालें जैसे लोभिया, उड़द, कुल्थी भी खाई जाती है। रात्रि भोजन में मूँग जैसी हल्की दाल, विशेषकर गर्मियों में, शरीर के लिए अनुकूल होती है क्योंकि वह आसानी से पच जाती है। अंकुरित दाल मानव के शरीर के लिए पोष्टिक और हल्की भी होती है। उसे मानव सलाद में कच्चा भी खाते हैं या छौंक कर सब्ज़ी या दाल जैसे पका कर भी खाते हैं।

ऋतु बदलते समय मानव के शरीर की सफाई व्यवस्थित होना सबसे महत्वपूर्ण है। इस दौरान

शरीर पर बदलते वातावरण का अधिकतम प्रभाव पड़ता है। इस बदलती हवा के साथ शरीर को संतुलित होने में समय लगता है। इसलिए मौसम बदलते समय मानव उपवास या हल्का भोजन करते हैं ताकि शरीर में पाचन आसानी से हो जाए। इस तरह, मानव के शरीर की ऊर्जा शरीर की सफाई में लग जाती है। शरीर में रुकी मैल को मल द्वारा बाहर निकालना, त्वचा और मूत्राशय से पसीने और मूत्र द्वारा शरीर की गन्दगी बाहर करना। इस प्रकार ऋतु बदलते समय भी मानव अपना स्वास्थ्य बनाये रखते हैं।

जागृत मानव शरीर को समझते हैं और उस पर प्रर्याप्त ध्यान देते हैं। अर्थात उसकी आवश्कताओं को पूरा करते हैं और शरीर की व्यवस्था को बनाये रखते हैं। शरीर की व्यवस्था और आवश्यकता पर ध्यान न जाने पर मानव का शरीर रोगी होता है। शरीर की अस्वस्थता के प्रमुख कारण पेट की ठीक से सफाई न होना, अशुद्ध आहार का सेवन करना, श्रम और व्यायाम का अभाव होना है। शरीर में अस्वस्थता होने से मानव अपने आहार को सुधारते हैं, अपने दिनचर्या में व्यायाम और श्रम करते हैं, शरीर को पर्याप्त आराम भी देते हैं। इन सबसे शरीर स्वस्थ न हो तब मानव औषधि का भी प्रयोग करते हैं।

औषधि जैसी वस्तु मानव के शरीर में आसानी से पचती है। पचने पर उससे जो शरीर में रस बनता है, वह (रस) मानव के शरीर में आवश्यक तत्वों की कमी को पूरा करता है या जो शरीर में नकारात्मक पदार्थ हैं उसे शरीर से मल–मूत्र द्वारा बाहर निकालता है। इस तरह औषधि के सहयोग से मानव के शरीर के रसों का संतुलन बनता है। जैसे रक्त की कमी होने से हम मानव शहद में नीम्बू के रस को मिलाकर चाटते हैं और शरीर में रसों को पुनः संतुलित करते हैं। औषधि पेड़–पौधों, खनिज, मिट्टी, धातु, मणि, दूध, दही, घी जैसी चीज़ों से बनती है। आहार भी एक प्रकार से औषधि ही हैं। अजवाइन, धनिया और ज़ीरा जैसी चीज़ें पाचन में मदद करती हैं। काली मिर्च के अनेक प्रकार के उपयोग होते हैं। इसको भूख न लगना, ज्वर, सर्दी–खॉसी में प्रयोग करते हैं। इसको बंगला पान और तुलसी के साथ काढ़ा बनाकर बुखार या सर्दी–ज़ुकाम में पीते हैं। काली मिर्च से मानव के शरीर में (शुद्ध) रक्त बनता है।

अधिकतर औषधि का मानव मुँह से सेवन करते हैं। औषधि का पेट में पचने पर शरीर की आवश्यकता अनुसार रस बनता है। कुछ औषधि मानव साँस द्वारा शरीर के अन्दर लेते हैं। जैसे सर्दी–ज़ुकाम में मानव पानी का भाप साँस द्वारा अन्दर लेते हैं ताकि मानव की नाक की नाली से मैल

बाहर निकल जाए। कुछ औषधि मानव नाक, कान या आँख से भी लेते हैं। जैसे ज़ुकाम में सरसों के तेल या गाय के घी को नाक से सुड़कते हैं। आँखों की सफाई के लिए गुलाब फूल का अर्क या प्याज़ का रस या शहद या गाय का घी डालते हैं। बहुत कम औषधि ऐसी हैं जिन्हें मुँह में डालने के बाद वह सीधा मानव के रक्त में मिल जाती हैं। ऐसी औषधि बहुत प्रभावकारी होती हैं। इसलिए पेट में पचने वाली औषधियों का हम मानव ज़्यादा प्रयोग करते हैं क्योंकि वह शरीर के लिए सबसे सहज और सुरक्षित होती हैं। तेल जैसी चीज़ त्वचा से सीधा रक्त में मिलती है। इसलिए तेल मालिश से मानव की प्राणकोशिकाएँ पुष्ट होती हैं। साथ ही, नाभी में तेल लगाने से मानव के होंट स्वस्थ रहते हैं।

हम मानव के शरीर की स्वस्थता बनी रहे इसके लिए हम पहले अपने आहार को और फिर विहार को व्यवस्थित करते हैं। इन सबके बावजूद शरीर अस्वस्थ होता है तो फिर हम औषधि का प्रयोग करते हैं। स्वस्थ शरीर के लिए स्वस्थ मन अनिवार्य है। स्वस्थ (समझदार) मन होने से मानव अपने शरीर को व्यवस्था के रूप में देख पाते हैं। शरीर नियम–अनुसार कार्य करता है, यह समझने पर मानव अपने शरीर के साथ संबंध समझते हैं और उसके साथ सह–अस्तित्वपूर्वक जीने की ज़िम्मेदारी सहजता से स्वीकारते हैं। अतः समझदार अथवा जागृत मानव शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिए सही आहार और सही विहार करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर औषधि का प्रयोग करते हैं। जागृत मानव ज्ञान से संचालित होते हैं और इसलिए शरीर को स्वस्थ बनाये रखते हैं।

अभ्यास व अध्ययन

1. रात्रि भोजन में कौन सी सावधानियाँ आवश्यक है?
2. ग्रीष्म ऋतु में किस तरह के आहार हम करते हैं?
3. शीत ऋतु में किस तरह के हम आहार करते हैं?
4. ऋतु बदलाव के समय शरीर को किस तरह संतुलित रखते हैं?
5. शरीर अस्वस्थता के क्या कारण हैं?
6. काली मिर्च के उपयोग बताइए।
7. "स्वस्थ शरीर क लिए स्वस्थ मन अनिवार्य है" – इसे स्पष्ट कीजिए।

पाठ–20

मानवीय उत्पादन–कार्य

परिवार परम्परा में समृद्धि के लिए उत्पादन एक अनिवार्य भाग है। उत्पादन आवर्तनशील होने पर ही समृद्धि पीढ़ी दर पीढ़ी बनी रहती है। इस प्रकार आवर्तनशील उत्पादन मानवीय परम्परा में अनिवार्य है।

मानव परम्परा में सम्पूर्ण उत्पादन–कार्य को दो भागों में देखा जाता है। प्रथम, कृषि एवं पशुपालन; द्वितिय उद्योग। कृषि एवं पशुपालन क्रमशः प्राणावस्था व जीवावस्था के साथ किए गए श्रम का नाम है। उद्योग पदार्थावस्था के साथ किया जाता है एवं पशुपालन तथा कृषि से प्राप्त वस्तुओं के साथ किया जाता है। पशुपालन एवं कृषि से प्राप्त वस्तुएँ जैसे ऊन से वस्त्र बनाना, कपास से वस्त्र बनाना या लकड़ी से दरवाज़े, हल, कुर्सी, मेज़ जेसी वस्तुएँ उद्योग के श्रेणी में आते हैं।

मानव इतिहास के क्रम को देखने पर स्पष्ट होता है कि पहले आहार के लिए मानव वन पर आश्रित रहा। फल, कंद–फूल एवं पत्ती सबसे सरल आहार रहे। पशुओं को पकड़कर उनका दूध पीना, मुधुमक्खी के छत्ते से मधु प्राप्त करना भी कार्यक्रम रहा। उस समय जंगली पशुओं के भय से निपटने के लिए पत्थर एवं डण्डे का प्रयोग होता था। फल तोड़ने के लिए भी इनका प्रयोग होता रहा। इन्हें हम उद्योगों का आदिम स्वरूप या प्रारंभिक स्वरूप मान सकते हैं। जैसे ही मानव मैदानों में आकर कृषि कार्य करने लगे, अनेक प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता पड़ने लगी। समतल भूमि में निवास का मुख्य कारण जंगलों के हिंसक पशुओं का भय, विषैले जीव जन्तुओं का भय प्रमुख रहा। आहार की समस्या भी प्रमुख भाग में से

रहा। वन में पाये जाने वाली वस्तुओं या सभी वनस्पति आहार योग्य नहीं होते। कुछ आहार योग्य होते हैं, कुछ प्रसंस्करण के द्वारा आहार योग्य होते हैं। प्रसंस्करण के लिए प्रमुख वस्तुओं में अग्नि भी एक वस्तु है। वन में अग्नि को सुरक्षित रखना, फैलने से रोकना भी एक श्रम साध्य कार्य रहा। जो आहार योग्य वनस्पति होते थे, उनकी वर्ष–भर उपलब्धता भी संदिग्ध रही। इस प्रकार आहार को पहचानने के क्रम में अन्न एक बड़ी खोज रही। अन्न प्रायः सीधे नहीं खाये जा सकते हैं। परन्तु अधिकांश अन्न को लम्बे समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है। अन्न में धान, जौ, गेंहू, चना, मटर, अरहर जैसी वस्तुएँ आती है। अन्न की कृषि के लिए खुला स्थान, सूर्य प्रकाश या ध ूप की आवश्यकता रही। इस प्रकार वन में जीते हुए मानव के लिए समतल एवं खुले स्थानों में रहना दीर्घकालीन घटना क्रम एवं विचार प्रक्रिया का फल रहा।

वन में वर्षा से बचने के लिए वृक्ष थे ही, वृक्ष की छाया में धूप से भी बचते थे। वन से हटते ही आवास एक प्रमुख आवश्यकता की वस्तु हो गई। धीरे–धीरे पानी रखने के पात्र, अनाज कूटने–पीसने के लिए चक्की, लकड़ी काटने के औज़ार, मिट्टी के बर्तन से उद्योगों की विधिवत शुरूआत हुई। धीरे–धीरे उद्योगों का स्वरूप बदला, उद्योगों के प्रकार भी बदलें। आज मानव समाज में हज़ारों प्रकार के उद्योग हैं। कृषि एवं पशुपालन मे भी शनैः शनैः वृद्धि हुई। कृषि का क्षेत्रफल बढ़ा, वनस्पति एवं अन्न की अनेकों प्रजाति कृषि–कार्य में प्रयुक्त होने लगी। जैसे जलाऊ लकड़ी, इमारती लकड़ी, औषधियाँ कृषि के अंग बन गए हैं।

मानवीय व्यवस्था में आवर्तनशील उत्पादन होते हैं। कृषि, पशुपालन एवं उद्योगों में आवर्तनशीलता को पहचानकर अभ्यास किया जाता है। आवर्तनशीलता प्राकृतिक नियम के पालन से ही सफल है।

प्रत्येक भूमि पर पाये जाने वाला ऋतुमान, शीतमान, तापमान और वर्षामान, उस भूमि पर स्थित खनिज एवं वनस्पति के अनुपात पर निर्भर करता है। इसे बनाए रखना ही प्राकृतिक नियम है। खनिज और वनस्पति के उत्पादन के अनुरूप व्यय करना, उत्पादन में सहयोगी होना प्राकृतिक नियम है। खनिज का निर्माण मनुष्य करता नहीं है। कर नहीं सकता। कुछ खनिज जैसे रेत; नदी में प्रति वर्ष जमा होते हैं। आवर्तनशील विधि से इनका उपयोग होता है।

कृषि एवं पशुपालन से सामान्य आवश्यकता का बहुत बड़ा भाग प्राप्त होता है। सम्पूर्ण आहार इसी से प्राप्त होता है। वस्त्र की आवश्यक सामग्री कृषि से ही प्राप्त होती है। उद्योग के द्वारा वस्त्र

उत्पादन होता है। आवास के लिए भवन–निर्माण में इसकी उपयोगिता है। कृषि आवर्तनशील विधि से ही सफल है। पशु पालन इसके लिए पूरक होता है।

सभी प्रकार के उद्योगों के लिए भूमि अनिवार्य घटक है। भूमि अनेक प्रकार के भौतिक–रासायनिक द्रव्यों का मिश्रण है। इनसे कई प्रकार के रासायनिक–भौतिक वस्तुएँ मानव बनाता है – ये उद्योगों में गण्य है। इस प्रकार आवर्तनशील उत्पादन के लिए भूमि–संरक्षण, जल–संरक्षण, वन एवं वनस्पति–संरक्षण तथा जीव–संरक्षण अनिवार्य भाग हैं। प्राकृतिक रूप में ये बने रहें, तभी आवर्तनशील कृषि व उद्योग सफल होते हैं।

वर्षा ही जल का स्रोत है। वर्षा जल को रोककर वर्ष–भर उपयोग किया जाता है। भूमि पर रुका जल कुछ मात्रा में भूमिगत स्रोतों तक पहुँचता है। ऊपरी जल समाप्त होने पर अर्थात तालाब, झील सूखने पर इन्हीं भूमिगत स्रोतों से कुँआ, नलकूप द्वारा जल निकाला जाता है। इसमें भी आवर्तनशीलता अनिवार्य है। अर्थात जितना जल भूमिगत स्रोतों में पहुँचता है, उतना उपयोग करने से आवर्तनशीलता बनी रहती है। उससे अधिक जल निकालने पर जलस्तर कम होता है एवं अनेक समस्याएँ पैदा हो जाती है।

इस प्रकार आवर्तनशील उत्पादन के लिए प्राकृतिक नियम का पालन अनिवार्य है। इसी के साथ श्रम का महत्व समझना, सेवा का महत्व समझना, उत्पादन की तकनीक को समझना; आवर्तनशील उत्पादन का द्वितीय चरण है। श्रम का अभ्यास, सेवा का अभ्यास एवं तकनीक का अभ्यास, इस प्रक्रिया का तृतीय चरण है।

अभ्यास व अध्ययन

1. संपूर्ण उत्पादन–कार्य कितने भागों में देखा जाता है? स्पष्ट कीजिए।
2. आहार से संबंधित मानव इतिहास के शुरुआती प्रयास कौन–कौन से रहें?
3. प्राकृतिक नियम क्या है?
4. उत्पादन में आवर्तनशीलता क्यों आवश्यक है?

पाठ–21

मानवीय विनिमय–कोष

मानवीय व्यवस्था में विनिमय–कोष एक अनिवार्य आयाम है। विनिमय के द्वारा ही अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुओं की पूर्ति होती है। अपने उत्पादन को दूसरे वस्तु से बदला जाता है। कोई भी परिवार अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओं का उत्पादन कर नहीं सकता, इसलिए विनिमय समृद्धि के लिए एक अनिवार्य कार्यक्रम है।

विनिमय प्रक्रिया उत्पादन को बदल कर अन्य वस्तु पाने का नाम है। यह प्रक्रिया पूरकता विधि से सफल होती है। पूरकता; व्यवस्था में भागीदारी है। यह तृप्ति का कार्यक्रम है, इसलिए यह लाभ–हानि मुक्त होता है। लाभ–हानि युक्त कार्यक्रम में कभी भी दोनों पक्ष तृप्त नहीं होते हैं।

वस्तुओं के मूल्य के आधार पर विनिमय प्रक्रिया की जाती है। सामान्यतः वस्तुओं मे 4 प्रकार के मूल्य प्रचलित है।

1. उपयोगिता मूल्य
2. उपभोग मूल्य
3. श्रम मूल्य
4. प्रतीक मूल्य

1. **उपयोगिता मूल्य** : मानवोपयोगी सभी वस्तुओं में उपयोगिता मूल्य होता है। मानवीय उत्पादन में प्रत्येक वस्तु का उपयोगिता मूल्य होता है। यह उपयोगिता मूल्य स्थिर होता है। अर्थात इसका मूल्य परिवर्तित नहीं होता, यह निरंतर एक जैसा होता है। उदाहरण के लिए गेहूँ एक उपयोगी वस्तु है। कृषि द्वारा इसका उत्पादन किया जाता है। गेहूँ शरीर के पोषण के लिए उपयोगी होता है। शरीर का पोषण, गेहूँ का उपयोगिता मूल्य कहलाता है। आज गेहूँ मानव–शरीर के लिए जितना पोषक है, 50 वर्ष पूर्व भी इतना ही पोषक रहा, 100 वर्ष पूर्व या हज़ारों वर्ष पूर्व भी इतना ही पोषक रहा। आगे भी इसकी पोषकता इतनी ही बनी रहती है। इस प्रकार उपयोगिता मूल्य

की पहचान होने पर ही मानव परंपरा में समृद्धि होती है। अन्यथा समृद्धि संभव नहीं है।

2. **उपभोग मूल्य** : यह माना हुआ मूल्य होता है। जैसे किसी व्यक्ति को कोई भवन पसंद नहीं है – तो उस भवन का उपभोग मूल्य उस व्यक्ति के लिए बहुत कम या बिलकुल नहीं होता है। जबकि भवन की उपयोगिता है ही। भवन–निर्माण में श्रम एवं संसाधन भी लगे हैं। इस प्रकार उपभोग मूल्य व्यक्ति से व्यक्ति बदलता है, समय–समय पर बदलता है, स्थान–स्थान पर बदल जाता है। ऐसे बदलने वाली मान्यता से व्यवस्था होना संभव नहीं है। समृद्धि भी संभव नहीं है। उपभोग मूल्य भ्रमित मानसिकता का द्योतक है।

3. **श्रम मूल्य** : प्रत्येक उत्पादन में श्रम अनिवार्य वस्तु है। किसी प्राकृतिक ऐश्वर्य पर श्रम नियोजन द्वारा उत्पादन होता है। श्रम नियोजन कुछ अवधि के लिए किया जाता है। यह अवधि समय कहलाती है। श्रम एवं समय का संयुक्त रूप उत्पादन में अनिवार्य है। प्राकृतिक ऐश्वर्य में पूरकता मूल्य होता है। यह पूरकता प्राकृतिक व्यवस्था में भागीदारी है। जैसे जल की धरती की प्राकृतिक व्यवस्था में भागीदारी सुनिश्चित है। इसमें प्राकृतिक रूप में कोई व्यतिरेक नहीं होता। कोई मनुष्य यदि जल के किसी अंश का उपयोग न करे, तब भी वह अंश प्राकृतिक व्यवस्था के लिए पूरक होता है। मानव के लिए उस अंश की उपयोगिता न होते हुए भी पूरकता मूल्य बना ही रहता है। मानव जब भी जल का उपयोग करता है, उपयोगिता मूल्य को पहचान कर ही उसका उपयोग करता है। इस प्रकार प्राकृतिक ऐश्वर्य में पूरकता और उपयोगिता – ये दो मूल्य होते हैं।

जल के निर्माण में मानव की कोई भूमिका नहीं है। इस धरती पर मानव के अवतरण के पूर्व जल था ही। मानव के अवतरण के पश्चात भी जल है। अतः जल का कोई श्रम मूल्य नहीं होता। किसी भी प्राकृतिक वस्तु का श्रम मूल्य नहीं होता।

वर्षा के लिए मानव का कोई श्रम नहीं लगता। वर्षा के जल को एकत्र करने के लिए श्रम लगता है। जैसे तालाब, कुँआ खोदने में। इन जलाशय से जल घर तक लाने में श्रम नियोजन होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु में पूरकता, उपयोगिता मूल्य होता है। प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु का श्रम मूल्य शून्य है।

4. **प्रतीक मूल्य** : प्रतीक मूल्य मानव की कल्पना है। किसी उपयोगी वस्तु के लिए प्रतीक मूल्य की कल्पना की जाती है। आज कल प्रतीक मूल्य मुद्रा के रूप में प्रचलित है। इसे धातु मुद्रा, पत्र मुद्रा के रूप में पहचाना जाता है।

कई बार प्रत्यक्ष विनिमय संभव नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति एक वस्त्र का उत्पादन करता है। उसके बदले में वह औषधि चाहता है। विनिमय–स्थली पर औषधि उपलब्ध न होने पर विनिमय–कार्य नहीं हो पाता। एसी स्थिति में वस्तु को देकर वह प्रतीक मुद्रा प्राप्त कर लेता है। यही प्रतीक मुद्रा को किसी अन्य स्थान में देकर औषधि प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार प्रतीक मुद्रा वस्तु–विनिमय का माध्यम बनता है। प्रतीक, उपयोगिता मूल्य नहीं है। कभी भी प्रतीक से समृद्धि नहीं हो सकती। वस्तु से ही समृद्धि होती है। वस्तुएँ जीने के लिए अनिवार्य हैं।

आदान–प्रदान वस्तु का ही होता है। प्रतीक केवल माध्यम है। आदान–प्रदान के लिए तीन संभावनाएँ है :

1. उपयोगिता मूल्य का प्रतीक मूल्य बनाया जाए।
2. उपभोग मूल्य का प्रतीक मूल्य बनाया जाए।
3. श्रम मूल्य का प्रतीक मूल्य बनाया जाए।

उपयोगी वस्तु के साथ मात्रा भी एक अनिवार्य भाग होता है जैसे गेंहूँ एक उपयोगी वस्तु है एवं कपड़ा भी एक उपयोगी वस्तु है। इन दोनों में विनिमय होता है। इन दोनों में श्रम लगता है। कितनी मात्रा में कितना समय–श्रम लगता, यह अनुमान किया जा सकता है। इसे निश्चय किया जा सकता है। अतः श्रम ही विनिमय होता है। श्रम का ही प्रतीक निश्चित किया जाता है। उपयोगिता का प्रतीक नहीं होता। उपभोग मूल्य बदलते रहते हैं, अतः जब भी उपभोग मूल्य के आधार पर प्रतीक बनते हैं, विनिमय प्रक्रिया अतृप्ति का कारण बनती है।

मानवीय विनिमय–कार्य श्रम–विनिमय है। इसमें समान श्रम से बनी वस्तुओं की मात्रा का विनिमय किया जाता हे। श्रम का शोषण न हो, श्रम का विनिमय हो – यही इसका मूल उद्देश्य है। उद्देश्य के पूर्ति होने पर विनिमय–कार्य में दोनों पक्ष तृप्त होते हैं। यह मानवीय व्यवस्था का अनिवार्य भाग है।

अभ्यास व अध्ययन

1. उपयोगिता मूल्य किसे कहते हैं?
2. उपभोग मूल्य क्या है?
3. श्रम मूल्य को विस्तार से बताइए।
4. प्रतीक मूल्य क्या है?

पाठ–22

न्याय–सुरक्षा

मानव परम्परा में न्याय–सुरक्षा एक अनिवार्य कार्यक्रम है। मानवीय व्यवस्था के 5 आयाम में एक आयाम न्याय–सुरक्षा है। मानव लक्ष्य समाधान, समृद्धि, अभय एवं सह–अस्तित्व है। लक्ष्य प्राप्ति के लिए सभी कार्यक्रम न्याय–सुरक्षा हैं। इन कार्यक्रमों को निम्न प्रकार से गिना जाता है :

1. नियम, नियंत्रण, सन्तुलन में जागृति पूर्वक आचरण ही न्याय–सुरक्षा है।
2. प्राकृतिक संलुलन को बनाए रखना न्याय–सुरक्षा है। यह प्राकृतिक नियम का पालन ही है।
3. जागृति सहज प्रमाण परम्परा ही न्याय–सुरक्षा है।
4. ज्ञान, विवेक विज्ञान सम्पन्नता पूर्वक जीना ही न्याय सुरक्षा है।
5. परिवार व्यवस्था में भागीदारी पूर्वक जीना ही न्याय सुरक्षा है।
6. समग्र व्यवस्था में भागीदारी पूर्वक जीना ही न्याय–सुरक्षा है।
7. आवश्यक कार्यक्रमों की पहचान एवं परम्परा में उन्हें बनाए रखना ही न्याय–सुरक्षा है।
8. प्रत्येक मानव, मानवत्व सहित जीना ही न्याय–सुरक्षा है।

अस्तित्व मे 4 अवस्थाएँ हैं।

1. पदार्थ अवस्था 2. प्राण अवस्था 3. जीव अवस्था 4. ज्ञान अवस्था।

इनमें से मानवेत्तर तीनों अवस्थाएँ कर्म करने में परतंत्र एवं फल भोगने में भी परतंत्र हैं। मानव कर्म करने में स्वतंत्र है। कर्म के अनुसार फल भोगने की व्यवस्था है।

अस्तित्व की मानवेत्तर सभी इकाईयाँ स्वयं मे व्यवस्था हैं, एवं समग्र व्यवस्था में भागीदारी करते

हैं। मानव कर्म करने में स्वतंत्र होने के कारण स्वयं में व्यवस्था हो सकता है एवं अव्यवस्था पूर्वक जी सकता है। जीने के साथ–साथ फल भोगना होता है–जैसे व्यवस्था पूर्वक जीने पर सुख, शांति, संतोष एवं आनन्द का अनुभव करता है। अव्यवस्था पूर्वक जीने का फल शोषण, द्रोह, विद्रोह, युद्ध, अशांति, भय एवं दुःख है।

मानव का व्यवस्था पूर्वक जीना मानवत्व कहलाता है। इसे ही मानवीयता पूर्ण आचरण कहते हैं। मानवीयता पूर्ण आचरण के तीन भाग है :

1. मानवीय चरित्र : स्वधन, स्वनारी/स्वरूप एवं दयापूर्ण कार्य–व्यवहार।
2. मानवीय मूल्य : इसका मूल मानव–सम्बंध है। सम्बंध में जीने के साथ मूल्य, मूल्यांकन एवं उभय तृप्ति होती है। यह न्याय कहलाता है।
3. मानवीय नीति या नैतिकता : मन, तन एवं धन का सदुपयोग नैतिकता कहलाता है।

मानव चरित्र : स्वधन, स्वनारी/स्वरूप एवं दया पूर्ण कार्य व्यवहार मानवीय चरित्र का सम्पूर्ण स्वरूप है। यह समझदार मनुष्य के स्वत्व का प्रकाशन है। इसके विपरीत आचरण परधन, परनारी/पर–पुरूष एवं पर–पीड़ा के नाम से पहचाना जाता है। यही अपराध है अर्थात पर–धन में जीना अपराध है। पर–नारी/पर–पुरूष सम्बंध में जीना अपराध है। पर–पीड़ात्मक कार्य एवं व्यवहार भी अपराध है।

प्रत्येक समझदार मानव स्वधन एवं पर–धन के भेद या अन्तर को समझता है। एवं स्वधन को अपनाता है। इसी प्रकार स्वनारी/स्वपुरूष में अन्तर स्पष्ट होना एवं अपनाना मानीवय चरित्र है। दयापूर्ण कार्य एवं व्यवहार की पहचान एवं जीना मानवीय चरित्र है।

प्रत्येक शिशु जन्म से ही कुछ वस्तुओं का उपयोग करता है। जैसे वस्त्र, बिछौना आदि। यह उपयोग वह स्वयं नहीं करता, उसके अभिभावक उसके लिए उपयोग करते हैं। परिवार के अन्य सदस्य के लिए भी कुछ वस्तुएँ प्रयोग में आती हैं। जैसे वस्त्र आदि। दो–तीन वर्ष की आयु का शिशु अपने उपयोग की वस्तुओं को पहचानने लगता है साथ ही, परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं को पहचानता है। उन्हें वह क्रम से 'मेरा' या 'उनका' कहता है। जो वस्तुएँ सब सदस्य उपयोग करते हैं उसे सबका या अपना कहता है। अर्थात शिशु में 'मेरा' या 'स्वत्व' की

स्वीकृति होती है। इसी प्रकार विद्यालय जाने पर अपना कलम, पुस्तक, बस्ते को भी पहचानता है; अपनी वस्तु मानता है। इसी प्रकार धीरे–धीरे परिवार की स्वत्व की वस्तुओं को पहचानता है, अपना मानता है। माता–पिता, शिक्षक, बड़े भाई–बहन, मित्र उसे इन सबका बोध कराते हैं। धीरे–धीरे वह परिवार व्यवस्था या अन्य उत्पादन व्यवस्था में भागीदारी करता है। इस क्रम से स्वधन का बोध होना अनिवार्य है।

प्रतिफल, पारितोष एवं पुरस्कार को संयुक्त रूप में स्वधन कहते हैं। किसी उत्पादन–कार्य में भागीदारी का प्रतिफल, सेवा–कार्य में भागीदारी का प्रतिफल होता है। सम्बंधों में जो भेंट दिए जाते हैं, वह पारितोष होता है। जैसे शिशु काल से ही उपयोग करने योग्य वस्तु शिशुओं को अभिभावक भेंट देते हैं, अन्य सम्बंधी भी भेंट देते हैं।

सामाजिक व्यवस्था में भागीदारी एवं श्रेष्ठ कार्य करने पर अनेक बार समाज एवं व्यवस्था के स्तर पर सम्मानित किया जाता है। कभी–कभी कोई स्मृति चिन्ह, पदक या उपयोग योग्य वस्तुएँ भी दी जाती हैं। इन्हें पुरस्कार कहा जाता है। प्रतिफल, पुरस्कार, पारितोष के अलावा सभी वस्तुएँ परधन की श्रेणी में आती हैं।

परिवार व्यवस्था में भागीदारी करने के क्रम में विवाह भी एक घटना है। इसमें युवा स्त्री एवं पुरूष दाम्पत्य सम्बंध को स्वीकारते हैं। इनके अभिभावक एवं समाज के सभी गणमान्य सदस्य भी इस सम्बंध को स्वीकारते हैं एवं सम्मान देते हैं। पति–पत्नी सम्बंध ही स्वनारी/स्वपुरूष में गण्य है।

पति–पत्नी संबंध का उद्देश्य माता–पिता होने के गौरव को अनुभव करना एवं पूर्व पीढ़ी द्वारा प्राप्त उपकारों को मानव परंपरा में स्थापित रखना है। माता–पिता; संतान के लिए अभिभावक, मार्गदर्शक होते हैं। अतः माता–पिता का आचरण अनुकरण किया जाता है। दीर्घ काल तक माता–पिता का संरक्षण, मार्गदर्शन होना अनिवार्य रहता है। अतः पूरी आयु तक या वृद्धापि द्वारा शरीर अशक्त होने तक माता–पिता संरक्षक एवं मार्ग दर्शक बने रहते हैं। उनका संतान के साथ होना प्रेरणादायी होता है। माता–पिता के परस्पर सम्बंधों में निष्ठा होना, परिवार व्यवस्था के लिए अनिवार्य है। इसके विपरीत आचरण, परिवार व्यवस्था के लिए प्रतिकूल एवं मानवीय व्यवस्था में बाधक होते हैं।

परिवार व्यवस्था में जीना अनिवार्य स्थिति है। इसमें मनुष्येत्तर प्रकृति के लिए पूरक होना दयापूर्ण कार्य कहलाता है। यह मानव सम्बंधों एवं सम्पर्कों में दिखता है। इसमें सभी सम्पर्कों में व्यवस्था के लिए व्यवहार एवं प्रेरणा, स्वधन, स्वनारी/पुरूष का व्यवहार एवं इस प्रकार जीने की प्रेरणा देना दया पूर्ण व्यवहार कहलाता है।

ये सभी कार्य अखण्ड समाज एवं सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी के लिए हैं। किसी एक व्यक्ति या परिवार या समुदाय के भले एवं अन्य समुदाय परिवार या व्यक्ति के लिए बुरा होना, परपीड़ा का स्वरूप है।

मानवीय चरित्र की समझ, जीने मे निष्ठा एवं प्रमाण होने पर मानवीय व्यवस्था साकार रहती है।

अभ्यास व अध्ययन

1. न्याय में निष्ठा कैसे आती है?
2. मानव–मानव के बीच न्याय पहचानने के लिए क्या आवश्यक है?